पढ़ें और बढ़ें शृंखला

# रिश्तों की खिड़कियाँ

## भाग-1

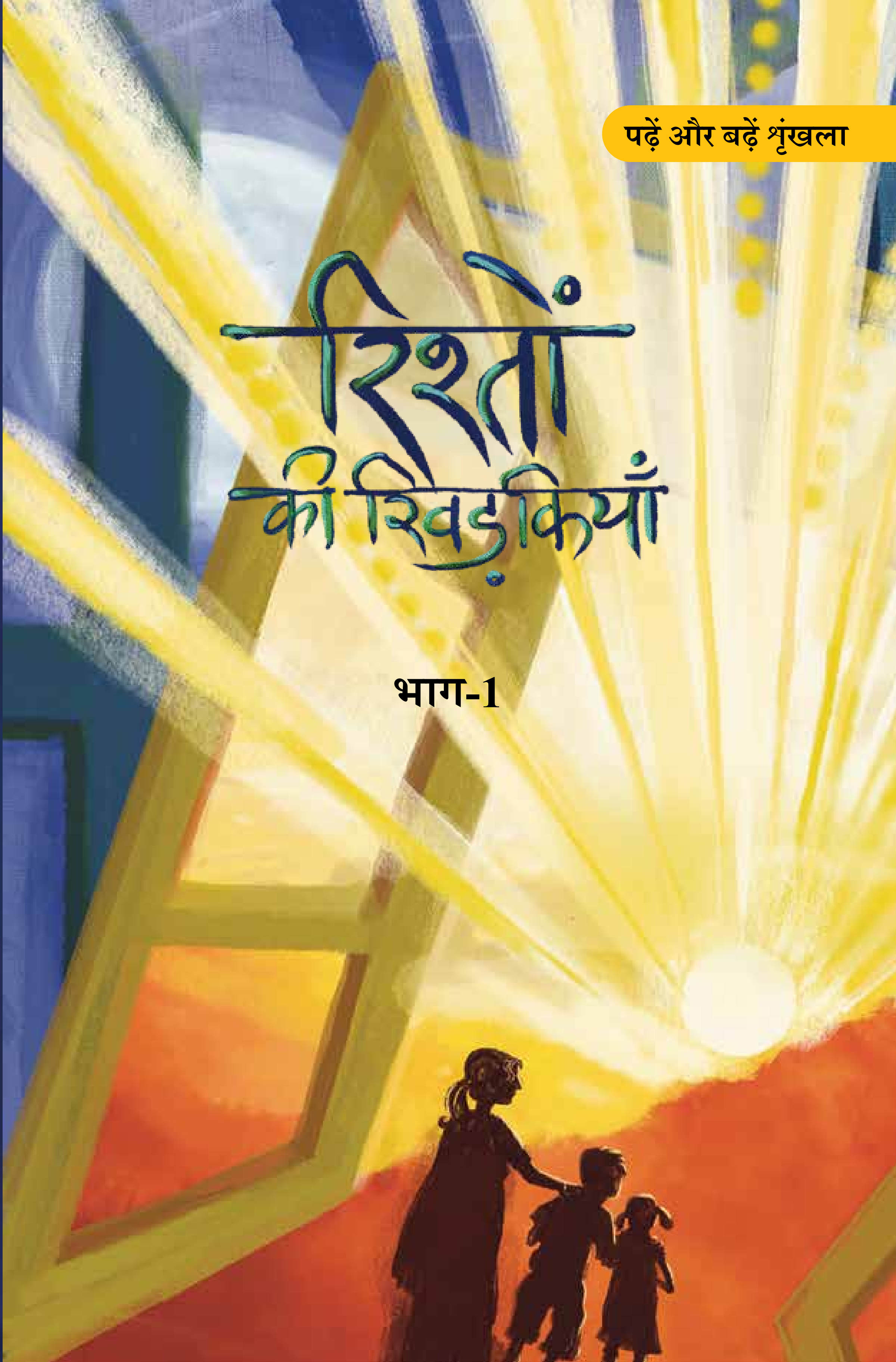

स्वच्छ भारत

एक कदम स्वच्छता की ओर

पढ़ें और बढ़ें शृंखला

# रिश्तों की खिड़कियाँ

## भाग-1

विद्ययाऽमृतमश्नुते

एन सी ई आर टी
NCERT

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

**21190 – रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग–1**

**ISBN 978-93-5292-890-3**

**प्रथम संस्करण**

*जुलाई 2024 आषाढ़ 1946*

**PD 3T BS**

***© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 2024***

**₹ 110.00**

*80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।*

सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110016 से प्रकाशित तथा गीता ऑफसेट प्रिंटर्स प्रा. लि., सी–90 एवं सी–86, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज–I, नई दिल्ली 110020 द्वारा मुद्रित।

**सर्वाधिकार सुरक्षित**

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलैक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फ़ोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुन: प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रचारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशन की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

**एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय**

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
**नयी दिल्ली 110 016** फ़ोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III इस्टेज
**बेंगलुरु 560 085** फ़ोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
**अहमदाबाद 380 014** फ़ोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट धनकल बस स्टॉप पिनहटी
**कोलकाता 700 114** फ़ोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगाँव
**गुवाहाटी 781021** फ़ोन : 0361-2676869

**प्रकाशन सहयोग**

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग : *अनूप कुमार राजपूत*

मुख्य उत्पादन अधिकारी : *अरुण चितकारा*

मुख्य संपादक (प्रभारी) : *बिज्ञान सुतार*

मुख्य व्यापार प्रबंधक : *अमिताभ कुमार*

सहायक उत्पादन अधिकारी : *ओम प्रकाश*

**आवरण एवं चित्रांकन**
*तापसी घोषाल*

# आमुख

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद समय-समय पर विद्यार्थियों के लिए पाठ्यपुस्तकों के साथ-साथ अतिरिक्त पाठ्यसामग्री का प्रकाशन करती है। विद्यार्थियों के पास कुछ ऐसे विकल्प भी उपलब्ध होने चाहिए, जो पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त हों। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में पठनसामग्री की उपलब्धता पर विशेष बल दिया गया है। इसे ध्यान में रखकर माध्यमिक स्तर के हिंदी विद्यार्थियों के लिए 'पढ़ें और बढ़ें' शृंखला की योजना बनाई गई। इसी योजना के तहत माध्यमिक स्तर के हिंदी विद्यार्थियों के लिए 'रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग-1' नामक पुस्तक को तैयार किया गया है। इस पुस्तक में माँ पर केंद्रित कहानियों और कविताओं का संचयन किया गया है। आशा है, यह पुस्तक विद्यार्थियों में पढ़ने की संस्कृति विकसित करेगी तथा अध्यापकों सहित अन्य पाठकों को आकृष्ट करेगी।

पुस्तक की सामग्री-चयन और समीक्षा के लिए आयोजित कार्यशालाओं में उपस्थित होकर जिन विषय विशेषज्ञों तथा अनुभवी अध्यापकों ने अपने बहुमूल्य सुझावों द्वारा पुस्तक को उपयोगी बनाने में सहयोग किया है, परिषद उनके प्रति आभार व्यक्त करती है। यह पुस्तक परिषद के भाषा शिक्षा विभाग के हिंदी संकाय सदस्यों द्वारा किया गया एक सराहनीय प्रयास है।

निश्चय ही, पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों का विकास एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। अत: पुस्तक को और उपयोगी बनाने के लिए विद्यार्थियों, अध्यापकों और विशेषज्ञों के सुझावों का स्वागत है।

दिनेश प्रसाद सकलानी
*निदेशक*
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद

नई दिल्ली
*नवंबर, 2023*

# यह पुस्तक...

सभ्यता के आरंभ में मनुष्य ने सबसे पहला रिश्ता प्रकृति से कायम किया और धीरे-धीरे संपूर्ण सृष्टि के साथ अपने रिश्तों का निर्वाह करते हुए मानवीय रिश्तों का सृजन किया। ये रिश्ते समय के प्रवाह में धीरे-धीरे ही विकसित हुए हैं। समाज में रिश्तों की पहचान भिन्न-भिन्न नामों से होती रही है। आज ऐसे मानव समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसमें रिश्ते न हों। मनुष्य-मनुष्य के बीच अपनी भावनात्मक ज़रूरतों और परिस्थिति के अनुसार निर्मित इन रिश्तों की संवेदनाएँ बदलती रही हैं। हमारा सामाजिक जीवन वस्तुत: इन रिश्तों पर ही निर्भर है और उसे आज भी अर्थपूर्ण बनाए हुए है।

'पढ़ें और बढ़ें' शृंखला के अंतर्गत 'रिश्तों की खिड़कियाँ' (चार भागों में) पुस्तकों का निर्माण किया गया है। शृंखला के इस भाग-1 में माँ केंद्रित रचनाएँ संग्रहित की गई हैं। भाग-2 में पिता केंद्रित रचनाएँ, भाग-3 में पशु-पक्षियों पर केंद्रित रचनाएँ और भाग-4 में अन्य रिश्तों पर केंद्रित रचनाएँ सम्मिलित हैं। इसका उद्देश्य किशोर वय के पाठकों को रिश्तों की अहमियत और रिश्तों की बदलती संवेदना से सिर्फ़ परिचित कराना ही नहीं, बल्कि यह बताना भी है कि रिश्ते कभी जड़ या ठोस नहीं होते, वे असीम भावनाओं से भरे होते हैं और इनमें विभिन्न सामाजिक परिवेश और परिस्थितियों के अनुकूल जीवन-व्यवहार को समझने की गहरी अंतर्दृष्टि होती है।

मानव सभ्यता के इतिहास में माँ का रिश्ता सबसे प्राथमिक और आत्मीय रहा है। हमारे समस्त वांग्मय में माँ की महिमा से जुड़े अनेक प्रसंग मिलते हैं। इनमें माँ की ममता, त्याग, बलिदान और साहस का बार-बार उल्लेख हुआ है, यही नहीं अपनी धरती को भी हम माँ जैसा ही आदर-सम्मान देते हैं।

हिंदी साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, संस्मरण तथा अन्य विधाओं में माँ पर विपुल साहित्य लिखा गया है। 'रिश्तों की खिड़कियाँ' 'पढ़ें और बढ़ें' शृंखला की इस कड़ी में माँ से संबंधित ऐसी ही कुछ विशिष्ट और प्रतिनिधि कहानियों-कविताओं को चुना गया है। भीष्म साहनी की प्रसिद्ध कहानी 'चीफ़ की दावत' हिंदी की प्रतिनिधि रचना है। पश्चिमी जीवनशैली में माँ की उपेक्षा तथा उससे निकटता न रखना फैशन का हिस्सा हो सकता है, जिसका दो टूक उदाहरण कहानी का प्रमुख चरित्र रामनाथ है। किंतु भारतीय समाज में अपनी संतान के प्रति माँ की ममता अटूट रही है। इस कहानी की मूल संवेदना यही विचार है। कहा भी गया है, माता कभी कुमाता नहीं हो सकती, पुत्र-कुपुत्र भले हो जाए। कमलेश्वर हिंदी के लोकप्रिय कथाकार हैं इनकी कहानी 'देवा की माँ' में एक तेजस्वी और स्वाभिमानी माँ का ऐसा चरित्र है, जिसे पढ़कर आप भूल नहीं सकते। भुवनेश्वर की कहानी 'माँ-बेटे' में माँ की मृत्यु से पहले का मार्मिक क्षण हृदय को झकझोर देता है।

ममता कालिया की कहानी 'माँ' में अपनी बेटी के लिए किसी से भी लड़ जाने वाली एक ऐसी माँ का चित्रण है, जो इस संबंध की सर्वोच्च गारिमा व शक्ति का परिचय देता है। नई पीढ़ी के कथाकारों में अग्रणी हरि भटनागर और एस.आर. हरनोट की कहानियाँ 'माई' और 'माँ पढ़ती है' दो भिन्न कथा धरातलों पर माँ के महत्व को दर्शाती हैं। हरि भटनागर की कहानी जहाँ एक करुण प्रसंग को साकार करती है, वहीं हरनोट की कहानी में आधुनिक रंग-ढंग में डूबे बेटे की निसंगता के बावजूद माँ के प्रेम का अनन्य चित्र है। कुमार अंबुज हिंदी के सुपरिचित कवि हैं, यहाँ उनकी कहानी 'माँ रसोई में रहती है', में माँ के बहाने भारतीय स्त्री के घरों में बंद जीवन का कटु यथार्थ प्रस्तुत हुआ है।

'आपका बंटी' मन्नू भंडारी का उपन्यास है जिसमें तलाक और पुनर्विवाह के प्रसंग में एक छोटे बच्चे बंटी और उसकी माँ के संबंधों का वर्णन है। आज के जमाने में पारिवारिक संबंध अनेक जटिल वास्तविकताओं और बदलावों से गुजर रहे हैं, ऐसे में माँ की बदलती स्थिति को भी समझने की ज़रूरत है। 'आपका बंटी' उपन्यास से लिए गए अंश में ऐसी ही एक जटिल स्थिति का वर्णन है। बच्चे की निगाह से रचे गए इस अंश में लेखिका ने संबंधों की द्वंद्वात्मक स्थिति का उद्घाटन किया है।

संकलन में मंगलेश डबराल, सुभद्रा कुमारी चौहान, केदारनाथ सिंह, निदा फ़ाज़ली की ऐसी कविताएँ हैं, जो माँ की पारंपरिक और आज के समय में उसकी बदल रही छवियों को उजागर करती हैं।

उम्मीद है कि हमारे पाठक इन रचनाओं को पढ़कर इनका मर्म समझेंगे तथा भारतीय समाज में रिश्तों की गहराई और व्यापकता का उचित आशय ग्रहण कर सकेंगे।

पुस्तक में रचनाओं को रचनाकारों की वरिष्ठता के क्रम में रखने की कोशिश की गई है।

आपके सुझावों का स्वागत है।


**संध्या सिंह**

*प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष*

भाषा शिक्षा विभाग

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद

# पुस्तक निर्माण समिति

**सदस्य**

पल्लव, *सहायक प्रोफेसर*, हिंदू कॉलेज, दिल्ली

प्रमोद कुमार तिवारी, *सहायक प्रोफेसर*, गुजरात केंद्रीय विश्वविद्यालय, गांधीनगर, गुजरात

प्रेम कुमार तिवारी, *एसोसिएट प्रोफेसर*, दयाल सिंह कॉलेज, नई दिल्ली

श्याम सिंह सुशील, हिंदी लेखक, ए-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली

**समन्वयक**

संध्या सिंह, *प्रोफेसर* एवं *विभागाध्यक्ष*, भाषा शिक्षा विभाग, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली

# आभार

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (रा.शै.अ.प्र.प.) रचनाकारों, उनके परिजनों, संस्थानों/ प्रकाशकों के प्रति आभारी है जिन्होंने अपनी रचनाओं को प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की।

पुस्तक निर्माण संबंधी कार्यों में तकनीकी सहयोग एवं अन्य प्रकार के सहयोग के लिए परिषद हिरण्य हिमकर, *सहायक प्रोफेसर*, रामानुजन कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय; चंदन कुमार, *जे.पी.एफ.*; आशीष कुमार, *जे.पी.एफ.*; पारमिता राहा, *जे.पी.एफ.*; बजरंग बली कहाँर, *जे.पी.एफ.*; अमजद हुसैन, *ग्राफिक डिजाइनर*; और रेखा, *डी.टी.पी.ऑपरेटर*; तापसी घोषाल, *आर्टिस्ट* के प्रति आभारी है।

परिषद, पुस्तक को वर्तमान स्वरूप प्रदान करने के लिए हम प्रकाशन प्रभाग के सदस्यों दिनेश वशिष्ट, *संपादक* (संविदा); सुरेन्द्र कुमार, *प्रभारी, डी.टी.पी. प्रकोष्ठ*; नेहा नयाल, *डी.टी.पी. ऑपरेटर* (संविदा); सगीर अहमद, *डी.टी.पी. ऑपरेटर* (संविदा); अजय कुमार, *डी.टी.पी. ऑपरेटर* (संविदा); और मोहन सिंह, *डी.टी.पी. ऑपरेटर* (संविदा); के प्रति भी आभार व्यक्त करती है।

# विषय-सूची


| | | | |
|---|---|---|---|
| | *आमुख* | | *iii* |
| | *यह पुस्तक...* | | *v* |
| 1. | कदम्ब का पेड़ | सुभद्राकुमारी चौहान | 1 |
| 2. | माँ-बेटे | भुवनेश्वर | 4 |
| 3. | चीफ़ की दावत | भीष्म साहनी | 10 |
| 4. | आपका बंटी | मन्नू भंडारी | 20 |
| 5. | देवा की माँ | कमलेश्वर | 34 |
| 6. | सुई और तागे के बीच में | केदारनाथ सिंह | 47 |
| 7. | माँ पर नहीं लिख सकता कविता | चंद्रकांत देवताले | 51 |
| 8. | बेसन की सोंधी रोटी पर | निदा फ़ाज़ली | 54 |
| 9. | माँ | ममता कालिया | 56 |
| 10. | माँ की याद | राजेश जोशी | 63 |
| 11. | माँ की तस्वीर | मंगलेश डबराल | 66 |
| 12. | माँ पढ़ती है | एस.आर. हरनोट | 68 |
| 13. | माई | हरि भटनागर | 76 |
| 14. | माँ रसोई में रहती है | कुमार अंबुज | 83 |
| | *लेखकों के बारे में* | | 90 |

मिल-जुल कर स्कूल में जाएँ, साथ पढ़ें और
साथ में खाएँ। रंग-बिरंगी प्यारी दुनिया,
साथ मिलकर इसे सजाएँ।

# कदम्ब का पेड़

***— सुभद्राकुमारी चौहान***

*सुभद्राकुमारी चौहान की कविता 'कदम्ब का पेड़' उल्लेखनीय है। इस कविता में वात्सल्य का अनुपम चित्र आया है जब एक बच्चा अपनी माँ से कुछ आग्रह और हठ करता है। बच्चे माँ से ज़िद और हठ करते ही हैं, माँ अक्सर उन्हें संतुष्ट करती हैं और खुशी देती हैं। माँ और बच्चे का यह संबंध जीवन की अनमोल निधि है, क्योंकि यह संबंध किसी लाभ या लोभ का आधार नहीं है, बल्कि सहजता का अपूर्व आनंद कविता को अविस्मरणीय बनाता है।*

यह कदम्ब का पेड़ अगर माँ, होता यमुना तीरे,
मैं भी उस पर बैठ कन्हैया बनता धीरे-धीरे।
ले देतीं यदि मुझे बाँसुरी तुम दो पैसे वाली,
किसी तरह नीचे हो जाती यह कदम्ब की डाली।
तुम्हें नहीं कुछ कहता, पर मैं चुपके-चुपके आता,
उस नीची डाली से अम्मा, ऊँचे पर चढ़ जाता।
वहीं बैठ फिर बड़े मज़े से मैं बाँसुरी बजाता,
'अम्मा-अम्मा' कह बंसी के स्वर में तुम्हें बुलाता।
सुन मेरी बंसी को माँ तुम इतनी खुश हो जातीं,

मुझे देखने काम छोड़कर तुम बाहर तक आतीं।
तुमको आता देख बाँसुरी रख मैं चुप हो जाता,
पत्तों में छिपकर फिर मैं धीरे से बाँसुरी बजाता।
तुम हो चकित देखतीं चारों ओर न मुझको पाती,
तब व्याकुल-सी हो कदम्ब के नीचे तक आ जाती।
पतों का मर्मर स्वर सुन जब ऊपर आँख उठातीं,
मुझको ऊपर चढ़ा देखकर कितनी घबरा जातीं।
गुस्सा होकर मुझे डाँटतीं, कहतीं– 'नीचे आ जा'
पर जब मैं न उतरता, हँसकर कहतीं– "मुन्ना राजा,
नीचे उतरो, मेरे भैया! तुम्हें मिठाई दूँगी,
नये खिलौनें, माखन-मिश्री दूध मलाई दूँगी।"
मैं हँसकर सबसे ऊपर की टहनी पर चढ़ जाता,
एक बार 'माँ' कह मैं पत्तों में वहीं कहीं छिप जाता।
बहुत बुलाने पर भी माँ, जब मैं न उतरकर आता
तब माँ, माँ का हृदय तुम्हारा बहुत विकल हो जाता।
तुम आँचल पसारकर अम्मा वहीं पेड़ के नीचे,
ईश्वर से कुछ विनती करतीं बैठी आँखें मीचे।
तुम्हें ध्यान में लगी देख मैं धीरे-धीरे आता,
और तुम्हारे फैले आँचल के नीचे छिप जाता।
तुम घबराकर आँख खोलतीं फिर भी खुश हो जातीं,
जब अपने मुन्ना राजा को गोदी में ही पातीं।
इसी तरह कुछ खेला करते हम-तुम धीरे-धीरे,
माँ, कदम्ब का पेड़ अगर यह होता यमुना-तीरे।

## संवाद

1. आप कभी किसी पेड़ पर चढ़े हैं? पेड़ पर चढ़ने-उतरने में डर क्यों लगता है?
2. क्या आपने माँ से कोई ऐसी ज़िद की है, जो मुश्किल से पूरी हुई हो?

# माँ-बेटे

— ***भुवनेश्वर***

*भुवनेश्वर हिंदी के प्रसिद्ध रचनाकार हैं। उनकी कहानी 'माँ-बेटे' वात्सल्य का मार्मिक और हृदयस्पर्शी चित्र प्रस्तुत करती है। मृत्यु के द्वार पर खड़ी वृद्धा माँ के जीवन के अंतिम क्षणों में पुत्र का उसके समीप आकर हाथ पकड़ना और माँ का उसकी पीठ पर हाथ फेरते शांत हो जाना ऐसा दृश्य है, जो संबंधों की ऊष्मा और हार्दिकता को अविस्मरणीय बनाता है। मृत्यु एक महान सत्य है, किंतु यहाँ आया माँ का प्रेम उस मृत्यु के परे जीवन की स्थायी स्मृति बन गया है।*

चारपाई को घेरकर बैठे हुए उन सब लोगों ने एक साथ एक गहरी साँस ली। वह सब थके-हारे हुए खामोश थे। कमरे में पूरी खामोशी थी, मरने वाले की साँस भी थकी हुई-सी हारी हुई थी। तीन दिन से वह सब मौत की लड़ाई देख रहे थे और उसकी जीत का इंतज़ार कर रहे थे। पड़ोस के लोग खाली वक्त में आते, दरवाज़े में घुसते ही मुँह सुखाकर किसी एक से धीमी आवाज़ में पूछते– 'डाक्टर क्या कहता है?' या ऐसी ही और कुछ कह, मरने वाले का बुझा हुआ खाली मुँह देखकर सलाह या आलोचना के कुछ लफ़्ज़ कह चले जाते। वह सब दुनिया के साथ घूम रहे थे। सिर्फ़ मरने वाला धीरे-धीरे तेज़ी से अलग हो रहा था। चारपाई को घेरकर बैठने वाले, दुनिया में ऐसे वक्त जो होता आया है, कर रहे थे और जो

दुनिया में होता आया है उसके लिए तैयार थे या तैयार हो रहे थे। मरनेवाली उनकी माँ, नानी और दादी ही तो थी।

बड़ी लड़की कुच्ची गो भाई के दो खतों पर नहीं आई, उसकी लड़की को बच्चा होने वाला था; पर तार पाते ही अपनी लड़की को लेकर चली आई। बड़ा लड़का रेलवे की नौकरी में रात की ड्यूटी करता है, उसके लिए सुबह परांठे कौन और कैसे बनाता होगा, छोटा लड़का अब तो फलाश की बैठक नहीं जमाता है, इससे माँ की बीमारी या मौत से उसका कोई रिश्ता है, यह वह कभी-कभी जानना चाहती है। छोटी अभी जवान है, अभी तीन साल हुए उसकी शादी हुई है। छोटी भाभी से बड़ी की चुगली खाती आई है, आज भी खाती है। माँ की बीमारी या मरने का असर वहाँ किस तरह पड़ रहा है, न जानती है, न जानना चाहती है। बड़ा लड़का अधेड़ हो चला है, घर से अलग हो गया था, उसकी बीवी को अलग चूल्हा जलाते आज सत्रह साल हो गए, मरनेवाली से उसे हज़ार शिकायतें हैं आज वह उन्हें भूल जाना चाहती है। बीमारी के खर्चे और शायद श्राद्ध में भी आधा देने को तैयार है, पर वह छोटे के हाथ में रुपया न देगी। कौन उससे झगड़ा मोल ले! न, वह इस झगड़े में न पड़ेगी। छोटी बहू पाँचवीं बार यह कहने के लिए बेताब है कि बड़ी बहू कल शाम को रोते हुए बच्चे का झूठा बहाना कर सो गई। सिविल सर्जन को वह बुला लेती पर बड़ी बार-बार 'सिविल सर्जन सिविल सर्जन' क्यों चिल्ला रही है? क्या उनके सिवाय यहाँ सब देहाती, गधे ही हैं? दोनों लड़के एक-दूसरे से काफ़ी अरसे से दूर रह चुके हैं, आज एक साथ पाकर कुछ अजब-सा जान रहे हैं। थर्मामीटर दोनों एक साथ देखते हैं, दवा की खुराक दोनों एक साथ देखते हैं। बैदजी से दोनों बातें करना चाहते हैं। इनके अलावे बच्चे हैं, उनके माँ-बाप उन्हें घेर-घेरकर कहते हैं बेटे, बेटी! नानी-दादी जा रही हैं देख लो, मरने वाली के कान के पास कहते हैं– अम्मा! पोता, नाती, पैर छू रहे हैं, असीस दो। मरनेवाली आँखें चौड़ी करती है और कुछ बुदबुदाती है। वही अकेली तो मर रही है। वही अकेली तो जोती जा रही है। पछत्तर साल कड़ाके की गरमी, जाड़े, बरसात में जो जीवन कड़ा और स्थिर हो चुका है, आज वह फिर बिखर रहा है!

बड़ी लड़की कहती है– अम्मा, क्या सोच रही हो? हमें देखो। भगवान का नाम लो। बड़ी बहू कहती है– अम्मा, राम नाम कहो, पाप कटें!

छोटी जो जेठ की वज़ह से घूँघट काढ़े है, साँस भरकर कहती है– अम्मा के बराबर पुन्नात्मा कौन होगा?

बड़े लड़के ने कार्निस पर से शीशी उठाकर दवा डाली। छोटे ने जम्हाई लेते हुए कहा– पीली में लगाने की दवा है। बड़े ने मुँह बनाया और अम्मा को उठाकर दवा पिला दी।

तकिये में मुँह गड़ाकर उसने दीवार की तरफ़ करवट ली। उसके उलझे हुए छोटे सफ़ेद बाल मैले तकिए पर बिखरे थे।

छोटी बिछौना बदलना चाहती थी, पर बड़ी की राय न थी, छोटी ने फिर कहा– अम्मा धोती में कै लगी है, बदलोगी? अम्मा ने करवट ली और घूरकर देखा। सबके चेहरे एक-से और सादे थे। उनमें सबमें भरपूर ज़िंदगी थी। वह जैसे उनमें कुछ और ढूँढ़ रही थी। मौत के वक्त सुनते आए हैं कि सारी ज़िंदगी फ़िल्म की तरह आँखों के सामने फिर जाती है, मन धीमा हो जाता है, निश्चित– और पके हुए– बीते हुए पर ही वह बार-बार टिकता है। यह शायद उसे याद हो या न याद हो पर उसका मन तो रीता, बेज़बान जानवर की तरह हो रहा था। अब जब उसने उनके चेहरे 'डीज', की पुरानी लालटेन में देखे तो वह एकबारगी सोच उठी कि यह सब असफल क्यों हो गए? बड़े लड़के को, जब वह पैदा भी नहीं हुआ था और जब मुहल्ले का एक लड़का वकील हुआ था, उसने वकील बनाना चाहा था। पर वह वकील क्यों नहीं बना? उसने उसकी तरफ़ गर्दन घुमाकर देखा, वह पास आकर बोला– क्या है अम्मा! वह अजाने उसकी तरफ़ से संतुष्ट हो गई। उसने पानी माँगा।

पानी पीकर वह थककर लेट रही। आस-पास लोग बातें कर रहे थे। बड़ी लड़की की गर्भवती लड़की भी वहाँ आकर बैठ गई थी। उसकी माँ उसे हटाना चाहती थी। छोटा लड़का कुछ सोच रहा था और दुखी था। अम्मा ने एकबारगी धीमे से पुकारा, छोटे! छोटा लड़का उठकर पास तक गया और रो दिया। अम्मा ने मुँह फेर लिया। उसने आँसू पोंछते हुए कहा– सबेरे बड़े डॉक्टर को बुलाएँगे– और धोती से नाक पोंछते हुए बाहर चला गया। बड़ी ने गोद में लेटे हुए लड़के के मुँह में दूध देते हुए, जानकारी से कहा– हाँ, सिविल सर्जन को बुलाओ, लाला! छोटी ने मुँह बनाया। छोटी लड़की कुछ बूझकर मुस्कराई। बड़ी लड़की ने अपने बने हुए दाँत निकालकर कहा, कितना लेगा बहू?

बड़ा लड़का बोला– बड़ा डॉक्टर कोई परमात्मा है? और फिर सब चुप हो गए। अम्मा ने पूरा-पूरा सुना और जान लिया कि बड़ा डाक्टर परमात्मा नहीं है। परमात्मा का ख्याल आते ही उसे एकबारगी मालूम हुआ कि परमात्मा से वह इस वक्त भी उतनी ही दूर है जितनी कभी थी। सिर्फ़ उसमें इस वक्त एक तकलीफ़, एक तंगी समाई हुई है जो कभी न थी। वह कमरे की सब चीज़ें गौर से देखने लगी। उन चीज़ों को वह लाख बार देख चुकी थी; यहाँ तक कि वे अपनी असली शक्ल खो बैठे थे। पर आज वह सब अलग-अलग

और तीखी मालूम हो रही थीं। बड़ी बहू से वह नाराज़ है। एक मरतबे उसने गुस्से में यह भी कह दिया था कि मरते वक्त मैं तेरे हाथ का पानी भी न पीऊँगी! छोटी नेक है। उसने उसकी बड़ी सेवा की है; पर आज वह दोनों एक नए ही रूप में उसके सामने आ रही हैं। वह देख रही है कि वे दोनों गरीब हैं, दोनों लाचार हैं। क्यों लाचार हैं? वह सोचने लगी– यह भूलकर कि वह खुद लाचार है। वह फिर बुदबुदा उठी, कुच्चो! कुच्चो– बड़ी लड़की आँचल सँभालकर उठी, पर अम्मा का चेहरा तब पत्थर की तरह सफ़ेद हो चुका था। वह उसे गौर से देखने लगी।

बड़ी बहू– अम्मा कुछ सोच रही हैं।

बड़ा लड़का– माया-मोह घेरे है। दुनिया अजब तमाशा है!

बड़ी बहू– न जाने किसकी किस्मत में क्या लिखा है। (एक गहरी साँस लेकर छोटी बहू धीरे से) बाबूजी की बात सोच रही होंगी! पर अम्मा बाबूजी (अपने पति) की बात नहीं सोच रही थीं। वह सब बहुत दूर था। वहाँ तक घिसटकर पहुँचने में, मन में ताकत नहीं रह गई थी। वह इन लोगों से दूर, दूर धीरे-धीरे चली जा रही थी।

वाकई यह सब लोग असफल रहे। एक आदमी मरते वक्त ही दूसरे की इस बेमतलब और शर्मनाक असफलता को पूरी तरह जान सकता है। कुच्चो एक जमाने में हसीन-उमंगोंवाली थी। पहली संतान, माँ-बाप की लाड़ली। हौसले से ब्याही गई, पर यही नहीं कि समय-सूरमा से हार गई हो, पर रीती-रीती हो गई। अम्मा का एक वक्त इस पर अटूट प्यार था, जो बाद में बड़े लड़के के हिस्से में पड़ा। वह भी असफल रहा। अम्मा ने इन सब के लिए गहरे रंगों के पैटर्न बनाए, पर वह सब टूट गए। इनमें से एक भी उसके नज़दीक न था, उसका न था। इस वक्त तो उसके वही अपने थे जो बिल्कुल पूरे-पूरे उसके बनाए थे। हो सकता है, उसने उनसे बहुत ज़्यादा चाहा, पर क्या हुआ। किसी को अपनाना कुछ कम है? आधी रात को वह सब ज़मीन में बिस्तर बिछाए सो रहे थे, सिर्फ़ अम्मा जाग रही थी और जैसे डूब रही थी। ताज्जुब है कि उसकी तकलीफ़ भी डूब रही थी। वह दूर-दूर की बातें सोचने लगी। बेमतलब, बेजोड़। कोई मकान, कोई कभी का देखा हुआ आदमी, वह अजीब आवाज़ें सुनने लगी। पर यह हालत बहुत देर तक न रही। वह घबराने लगी, जैसे वह अकेली किसी अँधेरे रास्ते पर जाने से डर रही है। बदन में शक्ति न थी, वह बहुत दिन हुए जान चुकी थी, इसकी आदी हो चुकी थी, पर इस वक्त वह उस शक्ति के लिए लड़ने को तैयार हो गई, और सब सो रहे थे। वह उनके नथनों की आवाज़ सुन रही थी, पहचान रही थी, पर सब उसके लिए क्या है, जब उसके ही अपने जिस्म में शक्ति न थी? वह तो

उसके लिए लड़ेगी! उसके चेहरे की शांति गायब हो गई। वहाँ एक कड़वे संग्राम ने जगह पाई। उसका मुँह तीखा और-और भी बेजान हो चला।

बड़ा लड़का इत्तेफ़ाक से जाग उठा, वह कोई अप्रिय सपना देख रहा था। उसने खाँसकर सिरहाने रखा पानी पिया और उठकर अम्मा के पास आया, झुककर धीमी रोशनी में उसने उसका मुँह देखा, सिरहाने खाट पर ही सर रखे सोती हुई छोटी बहन को जगाना चाहा, पर फिर अम्मा के बाल सँभालते हुए बोला– अम्मा! अम्मा ने चौंककर उसकी तरफ़ देखा और वह अंदर का संग्राम जैसे धीमा पड़ गया, उसमें उसे थोड़ी-सी शांति मिली। बड़े लड़के ने फिर पुकारा– अम्मा! अम्मा फिर जैसे सोते से जगी। उसके पूरे-पूरे मन ने लड़के को पहचान लिया। वह एक पल के लिए उसके सिवा सब कुछ भूल गई।

'पानी पिओगी!' लड़के ने कहा।

अम्मा के अंग-अंग ने कुछ बोलना चाहा, पर वह बोल न सकी। संग्राम फिर शुरू हो गया। उसने मुँह फेरकर ज़ोर-ज़ोर से साँस लेना शुरू किया।

बड़े लड़के ने कुछ घबराकर उसकी दोनों बाँहों पर हाथ रखकर कहा– क्या है अम्मा?

अचानक अम्मा ने पाया, अपने अंदर एक पुरानी पहचानी हुई लपट को तीर की तरह सब तरफ़ से घुसते हुए। उसने जाना था कि यह लपट हमेशा के लिए बुझ गई है; पर इस वक्त, इस समूचे और सच्चे संग्राम के वक्त इसके छू-भर जाने से वह पुरानी लपट उसके रोएँ-रोएँ में नाच उठी। वह सिहर उठी और अब सारा संग्राम उस लपट की ओर मुड़ गया। बड़ा बेटा काँपती हुई अम्मा को मज़बूती से थामकर उसके बिलकुल नज़दीक आ गया था, यहाँ तक कि उनके सीने मिल गए और वह लपट और तेज़ हो गई और कमर के नीचे के हिस्से में बढ़कर उसकी पिंडलियों में चक्कर काटने लगी। उसने मुश्किल से अपने कमज़ोर हाथ उठाए और एक प्रेत के स्पर्श की तरह उसकी पीठ को सहलाने लगी। सारा संग्राम खत्म हो चुका था, सिर्फ़ उसके कमज़ोर मरते हुए हाथ एक अंदर की प्रेरणा से बेटे की पीठ पर घिसटते रहे और फिर धीरे-धीरे मर गए। बड़े ने आज तक किसी को मरते न देखा था इसीलिए वह किसी को वक्त पर जगा भी न सका।

## संवाद

1. 'अम्मा ने सबके लिए गहरे रंगों के पैटर्न बनाए, पर वह सब टूट गए।' लेखक के इस कथन का क्या अभिप्राय है?
2. माँ ने अंतिम समय में बेटे की पीठ पर हाथ फेरते-फेरते दम तोड़ा। क्या आपको कहानी के इस दृश्य से मिलता किसी नाटक या फिल्म का दृश्य याद आता है?

# चीफ़ की दावत

*— भीष्म साहनी*

*भीष्म साहनी की प्रसिद्ध कहानी 'चीफ़ की दावत' आधुनिक जीवन शैली में रंगे बेटे और उसकी वृद्धा माँ के संबंधों को दर्शाती है। घर में दावत का आयोजन होने पर बेटा माँ को फालतू सामान की तरह छिपा देना चाहता है किंतु अफ़सर को माँ की बनाई फुलकारी पसंद आ जाती है। इसी बात पर बेटे की दृष्टि बदल जाती है। संबंधों में आ रहे उथलेपन को अत्यंत भावप्रवण दृष्टि से दर्शाने वाली यह कहानी हिंदी कथा साहित्य की उपलब्धि मानी जाती है।*

आज मिस्टर शामनाथ के घर चीफ़ की दावत थी।

शामनाथ और उनकी धर्मपत्नी को पसीना पोंछने की फ़ुर्सत न थी। पत्नी ड्रेसिंग गाउन पहने, उलझे हुए बालों का जूड़ा बनाए, मुँह पर फैली हुई सुर्खी और पाउडर को मले, और मिस्टर शामनाथ सिगरेट-पर-सिगरेट फूँकते हुए चीज़ों की फेहरिस्त हाथ में थामे, एक कमरे से दूसरे कमरे में आ-जा रहे थे।

आखिर पाँच बजते-बजते तैयारी मुकम्मल होने लगी। कुर्सियाँ, मेज़, तिपाइयाँ, नैपकिन, फूल सब बरामदे में पहुँच गए। ड्रिंक का इंतज़ाम बैठक में कर दिया गया। अब घर का फालतू सामान अलमारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा। तभी शामनाथ के सामने सहसा एक अड़चन खड़ी हो गई, माँ का क्या होगा?

इस बात की ओर न उनका और न उनकी कुशल गृहिणी का ध्यान गया था। मिस्टर शामनाथ, श्रीमती की ओर घूमकर अंग्रेज़ी में बोले, "माँ का क्या होगा?"

श्रीमती काम करते-करते ठहर गईं, और थोड़ी देर तक सोचने के बाद बोलीं, "इन्हें पिछवाड़े इनकी सहेली के घर भेज दो। रातभर बेशक वहीं रहें। कल आ जाएँ।"

शामनाथ सिगरेट मुँह में रखे, सिकुड़ी आँखों से श्रीमती के चेहरे की ओर देखते हुए पल-भर सोचते रहे, फिर सिर हिलाकर बोले, "नहीं, मैं नहीं चाहता कि उस बुढ़िया का आना-जाना यहाँ फिर से शुरू हो। पहले ही बड़ी मुश्किल से बंद किया था। माँ से कहें कि जल्दी ही खाना खा के शाम को ही अपनी कोठरी में चली जाएँ। मेहमान कहीं आठ बजे आएँगे इससे पहले ही अपने काम से निबट लें।"

सुझाव ठीक था। दोनों को पसंद आया। मगर फिर सहसा श्रीमती बोल उठी, "जो वह सो गईं और नींद में खर्राटे लेने लगीं, तो? साथ ही तो बरामदा है, जहाँ लोग खाना खाएँगे।"

"तो इन्हें कह देंगे कि अंदर से दरवाज़ा बंद कर लें। मैं बाहर से ताला लगा दूँगा। या माँ को कह देता हूँ कि अंदर जाकर सोएँ नहीं, बैठी रहें, और क्या?"

"और जो सो गईं, तो? डिनर का क्या मालूम कब तक चले? ग्यारह-ग्यारह बजे तक तो तुम ड्रिंक ही करते रहते हो।"

शामनाथ कुछ खीज उठे, हाथ झटकते हुए बोले, "अच्छी-भली यह भाई के पास जा रही थीं। तुमने यूँ ही खुद अच्छा बनने के लिए बीच में टाँग अड़ा दी!"

"वाह! तुम माँ और बेटे की बातों में मैं क्यों बुरी बनूँ? तुम जानो और वह जानें।"

मिस्टर शामनाथ चुप रहे। यह मौका बहस का न था, समस्या का हल ढूँढ़ने का था। उन्होंने घूमकर माँ की कोठरी की ओर देखा। कोठरी का दरवाज़ा बरामदे में खुलता था। बरामदे की ओर देखते हुए झट से बोले, "मैंने सोच लिया है" और उन्हीं कदमों माँ की कोठरी के बाहर जा खड़े हुए। माँ दीवार के साथ एक चौकी पर बैठी, दुपट्टे में मुँह-सिर लपेटे, माला जप रही थीं। सुबह से तैयारी होती देखते हुए माँ का भी दिल धड़क रहा था। बेटे के दफ़्तर का बड़ा साहब घर पर आ रहा है, सारा काम सुभीते से चल जाए।

"माँ, आज तुम खाना जल्दी खा लेना। मेहमान लोग साढ़े सात बजे आ जाएँगे।"

माँ ने धीरे से मुँह पर से दुपट्टा हटाया और बेटे को देखते हुए कहा, "आज मुझे खाना नहीं खाना है, बेटा। तुम जो जानते हो, माँस-मछली बने, तो मैं कुछ नहीं खाती।"

"जैसे भी हो, अपने काम से जल्दी निबट लेना।"

"अच्छा, बेटा।"

"और माँ, हम लोग पहले बैठक में बैठेंगे। उतनी देर तुम यहाँ बरामदे में बैठना। फिर जब हम यहाँ आ जाएँ, तो तुम गुसलखाने के रास्ते बैठक में चली जाना।"

माँ अवाक! बेटे का चेहरा देखने लगीं। फिर धीरे से बोलीं, "अच्छा बेटा।"

"और माँ आज जल्दी सो नहीं जाना। तुम्हारे खर्राटों की आवाज़ दूर तक जाती है।"

माँ लज्जित-सी आवाज़ में बोली, "क्या करूँ, बेटा, मेरे बस की बात नहीं है। जब से बीमारी से उठी हूँ, नाक से साँस नहीं ले सकती।"

मिस्टर शामनाथ ने इंतज़ाम तो कर दिया, फिर भी उनकी उधेड़-बुन खत्म नहीं हुई। जो चीफ़ अचानक उधर आ निकला, तो? आठ-दस मेहमान होंगे, देसी अफ़सर, उनकी स्त्रियाँ होंगी, कोई भी गुसलखाने की तरफ़ जा सकता है। क्षोभ और क्रोध में वह झुँझलाने लगे। एक कुर्सी को उठाकर बरामदे में कोठरी के बाहर रखते हुए बोले, "आओ माँ, इस पर ज़रा बैठो तो।"

माँ माला सँभालतीं, पल्ला ठीक करती उठीं, और धीरे से कुर्सी पर आकर बैठ गईं।

"यूँ नहीं, माँ, टाँगें ऊपर चढ़ाकर नहीं बैठते। यह खाट नहीं हैं।"

माँ ने टाँगें नीचे उतार लीं।

"और खुदा के वास्ते नंगे पाँव नहीं घूमना। न ही वह खड़ाऊँ पहनकर सामने आना। किसी दिन तुम्हारी यह खड़ाऊँ उठाकर मैं बाहर फेंक दूँगा।"

माँ चुप रहीं।

"कपड़े कौन-से पहनोगी, माँ?"

"जो हैं, वही पहनूँगी, बेटा! जो कहो, पहन लूँ।"

मिस्टर शामनाथ सिगरेट मुँह में रखे, फिर अधखुली आँखों से माँ की ओर देखने लगे और माँ के कपड़ों की सोचने लगे। शामनाथ हर बात में तरतीब चाहते थे। घर का सब संचालन उनके अपने हाथ में था। खूँटियाँ कमरों में कहाँ लगाई जाएँ, बिस्तर कहाँ पर बिछे, किस रंग के पर्दे लगाएँ जाएँ, श्रीमती कौन-सी साड़ी पहनें, मेज़ किस साइज़ की हो... शामनाथ को चिंता थी कि अगर चीफ़ का साक्षात माँ से हो गया, तो कहीं लज्जित नहीं होना पड़े। माँ को सिर से पाँव तक देखते हुए बोले, "तुम सफ़ेद कमीज़ और सफ़ेद सलवार पहन लो, माँ। पहन के आओ तो, ज़रा देखूँ।"

माँ धीरे से उठीं और अपनी कोठरी में कपड़े पहनने चली गईं।

"यह माँ का झमेला ही रहेगा, उन्होंने फिर अंग्रेज़ी में अपनी स्त्री से कहा", "कोई ढंग की बात हो, तो भी कोई कहे। अगर कहीं कोई उल्टी-सीधी बात हो गई, चीफ़ को बुरा लगा, तो सारा मज़ा जाता रहेगा।"

माँ सफ़ेद कमीज और सफ़ेद सलवार पहनकर बाहर निकलीं। छोटा-सा कद, सफ़ेद कपड़ों में लिपटा, छोटा-सा सूखा हुआ शरीर, धुँधली आँखें, केवल सिर के आधे झड़े हुए बाल पल्ले की ओट में छिप पाए थे। पहले से कुछ ही कम कुरूप नज़र आ रही थीं।

"चलो, ठीक है। कोई चूड़ियाँ-वूड़ियाँ हों, तो वह भी पहन लो। कोई हर्ज़ नहीं।"

"चूड़ियाँ कहाँ से लाऊँ, बेटा? तुम तो जानते हो, सब ज़ेवर तुम्हारी पढ़ाई में बिक गए।"

यह वाक्य शामनाथ को तीर की तरह लगा। तिनकर बोले, "यह कौन-सा राग छेड़ दिया, माँ! सीधा कह दो, नहीं हैं ज़ेवर, बस। इससे पढ़ाई-वढ़ाई का क्या ताल्लुक है! जो ज़ेवर बिका, तो कुछ बनकर ही आया हूँ, जितना दिया था, उससे दुगना ले लेना।"

"मेरी जीभ जल जाय, बेटा, तुमसे ज़ेवर लूँगी? मेरे मुँह से यूँ ही निकल गया। जो होते, तो लाख बार पहनती!"

साढ़े पाँच बज चुके थे। अभी मिस्टर शामनाथ को खुद भी नहा-धोकर तैयार होना था। श्रीमती कब की अपने कमरे में जा चुकी थी। शामनाथ जाते हुए एक बार फिर माँ को हिदायत करते गए, "माँ, रोज़ की तरह गुमसुम बन के नहीं बैठी रहना। अगर साहब इधर आ निकलें और कोई बात पूछें, तो ठीक तरह से बात का जवाब देना। "

"मैं न पढ़ी, न लिखी, बेटा, मैं क्या बात करूँगी! तुम कह देना, माँ अनपढ़ है, कुछ जानती-समझती नहीं। वह नहीं पूछेगा।"

सात बजते-बजते माँ का दिल धक-धक करने लगा। अगर चीफ़ सामने आ गया और उसने कुछ पूछा, तो वह क्या जवाब देंगी? अंग्रेज़ को तो दूर से ही देखकर घबरा उठती थीं, यह तो अमरीकी है। न मालूम क्या पूछे? मैं क्या कहूँगी? माँ का जी चाहा कि चुपचाप पिछवाड़े विधवा सहेली के घर चली जाएँ। मगर बेटे के हुक्म को कैसे टाल सकती थीं? चुपचाप कुर्सी पर से टाँगें लटकाए वहीं बैठी रहीं।

एक कामयाब पार्टी वह है, जिसमें ड्रिंक कामयाबी से चल जाएँ। शामनाथ की पार्टी सफलता के शिखर चूमने लगी। वार्तालाप उसी रौ में बह रहा था, जिस रौ में गिलास भरे जा रहे थे। कहीं कोई रूकावट न थी, कोई अड़चन न थी। साहब को व्हिस्की पसंद आई थी। मेमसाहब को पर्दे पसंद आए थे, सोफा-कवर का डिज़ाइन पसंद आया था, कमरे की सज़ावट पसंद आई थी। इससे बढ़कर क्या चाहिए। साहब तो ड्रिंक के दूसरे दौर में ही चुटकुले और कहानियाँ कहने लग गए थे। दफ़्तर में जितना रौब रखते थे, यहाँ पर उतने ही दोस्त-परवर हो रहे थे और उनकी स्त्री, काला गाउन पहने, गले में सफ़ेद मोतियों का हार, सेंट और पाउडर की महक से ओत-प्रोत, कमरे में बैठी सभी देसी स्त्रियों की आराधना का केंद्र बनी हुई थीं। बात-बात पर हँसतीं, बात-बात पर सिर हिलातीं और शामनाथ की स्त्री से तो ऐसे बातें कर रही थीं, जैसे उनकी पुरानी सहेली हों।

और इसी रो में पीते-पिलाते साढ़े दस बज गए। वक्त गुज़रते पता ही न चला।

आखिर सब लोग अपने-अपने गिलासों में से आखिरी घूँट पीकर खाना खाने के लिए उठे और बैठक से बाहर निकले। आगे-आगे शामनाथ रास्ता दिखाते हुए, पीछे चीफ़ और दूसरे मेहमान।

बरामदे में पहुँचते ही शामनाथ सहसा ठिठक गए। जो दृश्य उन्होंने देखा, उससे उनकी टाँगें लड़खड़ा गईं, और क्षण-भर में सारा नशा हिरन होने लगा। बरामदे में ऐन कोठरी के बाहर माँ अपनी कुर्सी पर ज्यों-की-त्यों बैठी थीं। मगर दोनों पाँव कुर्सी की सीट पर रखे हुए, और सिर दाएँ से बाएँ और बाएँ से दाएँ झूल रहा था और मुँह में से लगातार गहरे खर्राटों की आवाज़ें आ रही थीं। जब सिर कुछ देर के लिए टेढ़ा होकर एक तरफ़ को थम जाता, तो खर्राटे और भी गहरे हो उठते। और फिर जब झटके से नींद टूटती, तो सिर फिर दाएँ से बाएँ झूलने लगता। पल्ला सिर पर से खिसक आया था, और माँ के झरे हुए बाल, आधे गंजे सिर पर अस्त-व्यस्त बिखर रहे थे।

देखते ही शामनाथ क्रुद्ध हो उठे। जी चाहा कि माँ को धक्का देकर उठा दें, और उन्हें कोठरी में धकेल दें, मगर ऐसा करना संभव न था, चीफ़ और बाकी मेहमान पास खड़े थे।

माँ को देखते ही देसी अफ़सरों की कुछ स्त्रियाँ हँस दीं कि इतने में चीफ़ ने धीरे से कहा– "पुअर डियर!"

माँ हड़बड़ा के उठ बैठीं। सामने खड़े इतने लोगों को देखकर ऐसी घबराईं कि कुछ कहते न बना। झट से पल्ला सिर पर रखती हुई खड़ी हो गईं और ज़मीन को देखने लगीं। उनके पाँव लड़खड़ाने लगे और हाथों की उँगलियाँ थर-थर काँपने लगीं।

"माँ, तुम जाके सो जाओ, तुम क्यों इतनी देर तक जाग रही थीं?" और खिसियाई हुई नज़रों से शामनाथ चीफ़ के मुँह की ओर देखने लगे।

चीफ़ के चेहरे पर मुस्कराहट थी। वहीं खड़े-खड़े बोले, "नमस्ते!"

माँ ने झिझकते हुए, अपने में सिमटते हुए दोनों हाथ जोड़े, मगर एक हाथ दुपट्टे के अंदर माला को पकड़े हुए था, दूसरा बाहर, ठीक तरह से नमस्ते भी न कर पाईं। शामनाथ इस पर भी खिन्न हो उठे।

इतने में चीफ़ ने अपना दायाँ हाथ, हाथ मिलाने के लिए माँ के आगे किया। माँ और भी घबरा उठीं।

माँ, हाथ मिलाओ।

पर हाथ कैसे मिलातीं? दाएँ हाथ में तो माला थी। घबराहट में माँ ने बायाँ हाथ ही साहब के दाएँ हाथ में रख दिया। शामनाथ दिल ही दिल में जल उठे। देसी अफ़सरों की स्त्रियाँ खिलखिला पड़ीं।

"यूँ नहीं, माँ! तुम तो जानती हो, दायाँ हाथ मिलाया जाता है। दायाँ हाथ मिलाओ।"

मगर तब तक चीफ़ माँ का बायाँ हाथ ही बार-बार हिलाकर कह रहे थे– "हौ डू यू डू?"

"कहो माँ, मैं ठीक हूँ, खैरियत से हूँ।"

माँ कुछ बड़बड़ाईं।

माँ कहती हैं, "मैं ठीक हूँ।" "कहो माँ, हो डू यू डू?"

माँ धीरे से सकुचाते हुए बोलीं, "हौ डू डू..."

एक बार फिर कहकहा उठा।

वातावरण हल्का होने लगा। साहब ने स्थिति सँभाल ली थी। लोग हँसने-चहकने लगे थे। शामनाथ के मन का क्षोभ भी कुछ-कुछ कम होने लगा था।

साहब अपने हाथ में माँ का हाथ अब भी पकड़े हुए थे, और माँ सिकुड़ी जा रही थीं। साहब के मुँह से शराब की बू आ रही थी।

शामनाथ अंग्रेज़ी में बोले, "मेरी माँ गाँव की रहने वाली हैं। उमर भर गाँव में रही हैं। इसलिए आपसे लजाती हैं।"

साहब इस पर खुश नज़र आए। बोले, "सच? मुझे गाँव के लोग बहुत पसंद हैं, तब तो तुम्हारी माँ गाँव के गीत और नाच भी जानती होंगी?" चीफ़ खुशी से सिर हिलाते हुए माँ को टिकटिकी बाँधे देखने लगे।

माँ, साहब कहते हैं, कोई गाना सुनाओ। कोई पुराना गीत, तुम्हें तो कितने ही याद होंगे।

माँ धीरे से बोलीं, "मैं क्या गाऊँगी, बेटा! मैंने कब गाया है?"

"वाह, माँ! मेहमान का कहा भी कोई टालता है?"

"साहब ने इतना रीझ से कहा है, नहीं गाओगी, तो साहब बुरा मानेंगे।"

"मैं क्या गाऊँ, बेटा। मुझे क्या आता है?"

"वाह! कोई बढ़िया टप्पे सुना दो। दो पत्तर अनाराँ दे..."

देसी अफ़सर और उनकी स्त्रियों ने इस सुझाव पर तालियाँ पीटी। माँ कभी दीन दृष्टि से बेटे के चेहरे को देखतीं, कभी पास खड़ी बहू के चेहरे को।

इतने में बेटे ने गंभीर आदेश-भरे लहजे में कहा, "माँ!"

इसके बाद हाँ या ना सवाल ही न उठता था। माँ बैठ गईं और क्षीण, दुर्बल, लरजती आवाज़ में एक पुराना विवाह का गीत गाने लगीं—

हरिया नी माए, हरिया नी भैणे

हरिया ते भागी भरिया है!

देसी स्त्रियाँ खिलखिला के हँस उठीं। तीन पंक्तियाँ गा के माँ चुप हो गईं।

बरामदा तालियों से गूँज उठा। साहब तालियाँ पीटना बंद ही न करते थे। शामनाथ की खीज प्रसन्नता और गर्व में बदल उठी थी। माँ ने पार्टी में नया रंग भर दिया था।

तालियाँ थमने पर साहब बोले, "पंजाब के गाँवों की दस्तकारी क्या है?"

शामनाथ खुशी में झूम रहे थे। बोले, "ओ, बहुत कुछ-साहब! मैं आपको एक सेट उन चीज़ों का भेंट करूँगा। आप उन्हें देखकर खुश होंगे।"

मगर साहब ने सिर हिलाकर अंग्रेज़ी में फिर पूछा, "नहीं, मैं दुकानों की चीज़ नहीं माँगता। पंजाबियों के घरों में क्या बनता है, औरतें खुद क्या बनाती हैं?"

शामनाथ कुछ सोचते हुए बोले, "लड़कियाँ गुड़ियाँ बनाती हैं, औरतें फुलकारियाँ बनाती हैं।"

फुलकारी क्या?

शामनाथ फुलकारी का मतलब समझाने की असफल चेष्टा करने के बाद माँ को बोले, क्यों माँ, "कोई पुरानी फुलकारी घर में हैं?"

माँ चुपचाप अंदर गईं और अपनी पुरानी फुलकारी उठा लाईं।

साहब बड़ी रुचि से फुलकारी देखने लगे। पुरानी फुलकारी थी, जगह-जगह से उसके तागे टूट रहे थे और कपड़ा फटने लगा था। साहब की रुचि को देखकर शामनाथ बोले, "यह फटी हुई है, साहब, मैं आपको नई बनवा दूँगा। माँ बना देंगी। क्यों माँ, साहब को फुलकारी बहुत पसंद हैं, इन्हें ऐसी ही एक फुलकारी बना दोगी न?"

माँ चुप रहीं। फिर डरते-डरते धीरे से बोलीं, "अब मेरी नज़र कहाँ है, बेटा! बूढ़ी आँखें क्या देखेंगी?"

मगर माँ का वाक्य बीच में ही तोड़ते हुए शामनाथ साहब को बोले, "वह ज़रूर बना देंगी। आप उसे देखकर खुश होंगे।"

साहब ने सिर हिलाया, धन्यवाद किया और हल्के-हल्के झूमते हुए खाने की मेज़ की ओर बढ़ गए। बाकी मेहमान भी उनके पीछे-पीछे हो लिए।

जब मेहमान बैठ गए और माँ पर से सबकी आँखें हट गईं, तो माँ धीरे से कुर्सी पर से उठीं, और सबसे नज़रें बचाती हुई अपनी कोठरी में चली गईं।

मगर कोठरी में बैठने की देर थी कि आँखों में छल-छल आँसू बहने लगे। वह दुपट्टे से बार-बार उन्हें पोंछतीं, पर वह बार-बार उमड़ आते, जैसे बरसों का बाँध तोड़कर उमड़ आए हों। माँ ने बहुतेरा दिल को समझाया, हाथ जोड़े, भगवान का नाम लिया, बेटे के चिरायु होने की प्रार्थना की, बार-बार आँखें बंद कीं, मगर आँसू बरसात के पानी की तरह जैसे थमने में ही न आते थे।

आधी रात का वक्त होगा। मेहमान खाना खाकर एक-एक करके जा चुके थे। माँ दीवार से सटकर बैठी, आँखें फाड़े दीवार को देखे जा रही थीं। घर के वातावरण में तनाव ढीला पड़ चुका था। मुहल्ले की निस्तब्धता शामनाथ के घर भी छा चुकी थी, केवल रसोई में प्लेटों के खनकने की आवाज़ आ रही थी। तभी सहसा माँ की कोठरी का दरवाज़ा ज़ोर से खटकने लगा।

"माँ, दरवाज़ा खोलो।"

माँ का दिल बैठ गया। हड़बड़ाकर उठ बैठीं। क्या मुझसे फिर कोई भूल हो गई? माँ कितनी देर से अपने आपको कोस रही थीं कि क्यों उन्हें नींद आ गईं, क्यों वह ऊँघने लगीं? क्या बेटे ने अभी तक क्षमा नहीं किया? माँ उठीं और काँपते हाथों से दरवाज़ा खोल दिया।

दरवाज़े खुलते ही शामनाथ झूमते हुए आगे बढ़ आए और माँ को आलिंगन में भर लिया।

"ओ अम्मी! तुमने तो आज रंग ला दिया! ...साहब तुमसे इतना खुश हुआ कि क्या कहूँ। ओ अम्मी! अम्मी!"

माँ की छोटी-सी काया सिमटकर बेटे के आलिंगन में छिप गई। माँ की आँखों में फिर आँसू आ गए। उन्हें पोंछती हुई धीरे से बोलीं, "बेटा, तुम मुझे हरिद्वार भेज दो। मैं कब से कह रही हूँ।"

शामनाथ का झूमना सहसा बंद हो गया और उनकी पेशानी पर फिर तनाव के बल पड़ने लगे। उनकी बाँहें माँ के शरीर पर से हट आईं।

"क्या कहा, माँ? यह कौन-सा राग तुमने फिर छेड़ दिया?"

शामनाथ का क्रोध बढ़ने लगा था, बोलते गए, "तुम मुझे बदनाम करना चाहती हो, ताकि दुनिया कहे कि बेटा माँ को अपने पास नहीं रख सकता।"

"नहीं बेटा, अब तुम अपनी बहू के साथ जैसा मन चाहे रहो। मैंने अपना खा-पहन लिया। अब यहाँ क्या करूँगी। जो थोड़े दिन ज़िंदगानी के बाकी हैं, भगवान का नाम लूँगी। तुम मुझे हरिद्वार भेज दो!"

"तुम चली जाओगी, तो फुलकारी कौन बनाएगा? साहब से तुम्हारे सामने ही फुलकारी देने का इकरार किया है।"

"मेरी आँखें अब नहीं हैं, बेटा, जो फुलकारी बना सकूँ। तुम कहीं और से बनवा लो। बनी-बनाई ले लो।"

"माँ, तुम मुझे धोखा दे के यूँ चली जाओगी? मेरा बनता काम बिगाड़ोगी? जानती नहीं, साहब खुश होगा, तो मुझे तरक्की मिलेगी!"

माँ चुप हो गईं। फिर बेटे के मुँह की ओर देखती हुई बोली, "क्या तेरी तरक्की होगी? क्या साहब तेरी तरक्की कर देगा? क्या उसने कुछ कहा है?"

"कहा नहीं, मगर देखती नहीं, कितना खुश गया है? कहता था, जब तेरी माँ फुलकारी बनाना शुरू करेंगी, तो मैं देखने आऊँगा कि कैसे बनाती हैं। जो साहब खुश हो गया, तो मुझे इससे बड़ी नौकरी भी मिल सकती है, मैं बड़ा अफ़सर बन सकता हूँ।"

माँ के चेहरे का रंग बदलने लगा, धीरे-धीरे उनका झुर्रियों-भरा मुँह खिलने लगा, आँखों में हल्की-हल्की चमक आने लगी।

"तो तेरी तरक्की होगी बेटा?"

"तरक्की यूँ ही हो जाएगी? साहब को खुश रखूँगा, तो कुछ करेगा, वरना उसकी खिदमत करनेवाले और थोड़े हैं?"

"तो मैं बना दूँगी, बेटा, जैसे बन पड़ेगा, बना दूँगी।"

और माँ दिल ही दिल में फिर बेटे के उज्ज्वल भविष्य की कामनाएँ करने लगीं और मिस्टर शामनाथ, "अब सो जाओ, माँ," कहते हुए, तनिक लड़खड़ाते हुए अपने कमरे की ओर घूम गए।

## संवाद

1. ऐसे ही किसी आयोजन के दौरान किसी बुज़ुर्ग के साथ हो रहे दुर्व्यवहार के प्रति आपकी प्रतिक्रिया क्या होगी?
2. अपने साथ हो रहे दुर्व्यवहार के बावजूद बेटे की तरक्की की कल्पना मात्र से ही माँ के चेहरे का रंग क्यों बदलने लगा, आँखों में हल्की-हल्की चमक क्यों आने लगी? विचार कीजिए।

# आपका बंटी

***— मन्नू भंडारी***

*मन्नू भंडारी के उपन्यास 'आपका बंटी' के इस अंश में माँ और बेटे के रिश्ते को बाल मनोविज्ञान से देखा गया है। माँ और पिता के बीच संबंधों में उभरी दरार को बंटी मिटा देना चाहता है लेकिन ऐसा न कर पाने की स्थिति में वह माँ को खुश देखने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार होता है, जो वह कर सकता है। इस प्रयत्न में उसका मन बार-बार व्यथित होता है।*

ममी का रोना बंटी को एकाएक बड़ा बना गया। बड़ा और समझदार। ममी की पापा से लड़ाई हो गई है, पक्कीवाली! दोस्ती तो अब हो ही नहीं सकती। ममी ने खुद उसे बताया। बिल्कुल ऐसे, जैसे बड़ों को बताया जाता है। साथ ही यह भी कि अब ममी के लिए जो भी है, बंटी ही है।

और ममी के एकमात्र सहारे बंटी के ऊपर जैसे हज़ार-हज़ार ज़िम्मेदारियाँ आ गई हैं ममी को प्रसन्न रखने की। हर काम में ममी की मदद करने की। कोई भी ऐसा काम न करने की, जिससे ममी दुखी और परेशान हों। वह सब करेगा, करता भी है। पर बस, न चाहते हुए भी पापा की याद उसे आ जाती है। लेकिन नहीं, अब वह उनके दिए हुए खिलौनों से नहीं खेलता। कभी उनकी बात भी नहीं करता। ममी को शायद अच्छा न लगे। रैक पर रखी हुई पापा की एकमात्र तस्वीर को भी उसने एक दिन चुपचाप उठाकर खिलौनों की अलमारी में बंद कर दिया– ममी से लड़ाई कर ली तो अब बैठो यहाँ, और क्या? सारे दिन ममी को उदास रखनेवाले, रुलानेवाले पापा की यही सज़ा है, बस! और उसे लगा जैसे ममी की ओर से उसने पापा के खिलाफ़ एक बहुत बड़ा कदम उठाया है।

ममी ने खाली रैक देखा और बंटी को देखने लगीं। एकटक। वह नीचे नज़रें झुकाए खड़ा रहा। पता नहीं कहीं नाराज़ ही न हो जाएँ। पर ममी ने उसे पकड़कर अपने पास खींच लिया। फिर प्यार किया। बहुत हल्के मुसकराईं भी, शायद उसकी समझदारी पर। पर न जाने क्यों उनकी आँखें नहीं मुसकरा पाईं, बल्कि उदास हो गईं। बिना आँसू के भी जैसे रोई-रोई हो जाया करती हैं, वैसी ही। तब वह एक क्षण को समझ ही नहीं पाया कि उसने ठीक किया है या गलत। तस्वीर हटने से ममी खुश हैं या उदास। क्योंकि ममी के होंठ तो मुसकराए पर आँखें उदास हो गईं।

कोई बात नहीं, धीरे-धीरे वह इन बातों को भी समझ लेगा। जितनी समझ आ गई है, वही क्या कम है?

बाहर निकलकर आम के पौधों को देखता— बस कुल दो नई पत्तियाँ, कुल चार पत्तियाँ, और लगता, वह तो उसके मुकाबले में बहुत-बहुत बड़ा हो गया है।

माली दादा कहते थे तुम्हारे साथ-साथ बड़ा होगा। कैसे होगा मेरे साथ-साथ बड़ा? कोई आसान है इतनी जल्दी-जल्दी बड़ा होना, कोई हो सकता है?

पापा ने इस बार उसे चिट्ठी लिखने को कहा था। पर उसने नहीं लिखी। लिखना तो खूब अच्छी तरह जानता है, लिख भी सकता है। पापा से कहा भी था कि अब वह ज़रूर बराबर चिट्ठियाँ लिखा करेगा। पर तब वह सारी बात समझता कहाँ था? तब तो उसे यह भी नहीं मालूम था कि ममी-पापा की पक्कीवाली कुट्टी हो गई है। पर अब कैसे लिख सकता है भला! वह पूरी तरह ममी की तरफ़ है और ममी से उनकी कुट्टी है तो फिर बंटी से भी है। ऐसा ही तो होता है।

फिर भी जब ममी इधर-उधर होती हैं तो वह चुपचाप अलमारी खोलकर उस किताब को निकालकर देखता है, जिसके पीछे के कवर पर पापा अपना पता लिख गए थे। अब तो उसे मुँहज़बानी याद भी हो गया है– 8ए, एलगिन रोड। पता पढ़ने के साथ ही उसके मन में पापा के घर के नक्शे उभरने लगते हैं, खूब-खूब ऊँचा मकान। एलगिन रोड के नक्शे उभरते हैं, कलकत्ते के नक्शे उभरते हैं– हावड़ा ब्रिज, ज़ू, लेक्स, बोटेनिकल गार्डेंज़, बिना तने का खूब बड़ा-सा बड़ का पेड़। पी.सी. सरकार का जादू– और फिर इन सबको दबोचती हुई, कुचलती हुई समझदारी उभरती है कि नहीं, उसे इन सबके बारे में सोचना भी नहीं है। पर इन सबको कुचलने के साथ उसके भीतर जाने क्या कुछ कुचलता रहता है। तब वह अपने-आपसे प्रॉमिस करता कि

कभी भी पापा की बात नहीं सोचेगा। मन ही मन किए हुए प्रॉमिस पर जब पूरी तरह भरोसा नहीं हो पाता तब ज़ोर-ज़ोर से बोलकर प्रॉमिस करता है। अपनी ही आवाज़ सुनकर उसके भीतर एक नया आत्मविश्वास जागता।

ममी आजकल पहले की तरह सारे दिन उदास नहीं रहतीं। वह बहुत अच्छा बन गया है शायद इसीलिए। वह बड़ा होकर और भी अच्छा बन जाएगा तो फिर बहुत खुश रहने लगेंगी। आजकल शाम को कभी-कभी बाहर भी जाती हैं। वह कभी मना नहीं करता। पूरी तरह आश्वस्त कर देता है, "ममी जाओ, मैं पीछे पढ़ूँगा। फूफी से खाना लेकर खा लूँगा। बिल्कुल भी तंग नहीं करूँगा।" फिर ममी उससे पूछतीं, "अच्छा बता तो बंटी, कौन-सी साड़ी पहनूँ?" तब बिल्कुल बड़ों की तरह वह सलाह देता। बिना सोचे-समझे नहीं, सारी साड़ियाँ देखकर, खूब सोच-समझकर।

और ममी जब वही साड़ी पहन लेतीं तो फिर अपनी ही नज़रों में वह बहुत महत्वपूर्ण हो उठता। मन में कहीं ममी की मदद करने का संतोष भर जाता।

फिर जब ममी उसकी ओर देखती हैं तो उनकी आँखों से कैसा प्यार झरता रहता है।

वह ममी को जाने के लिए कह तो देता है पर ममी जब चली जाती हैं तो घर जैसे और भी ज़्यादा खाली-खाली हो जाता है। सारे दिन बोर होते बंटी की बोरियत और ज़्यादा बढ़ जाती है। स्कूल खुला होता तो समझदार बनकर रहना कितना सरल हो जाता। आधा दिन स्कूल में कट जाता, आधा दिन समझदार होकर रह लिए। अब छुट्टियों में सारे दिन क्या करे वह? आखिर पढ़े भी कब तक? कभी फूफी से बतियाता रहता, कभी टीटू के घर चला जाता। या फिर घर के लोहे के फाटक पर झूलता या खड़ा-खड़ा सड़क ही देखता रहता, पर सड़क भी तो ऐसी है कि बहुत कम लोग इधर आते-जाते हैं। शहर से कटी-छँटी, बिल्कुल एक तरफ़ को है वह जगह। थोड़ी दूर और आगे तो बस्ती बिल्कुल ही खत्म हो जाती है। बस, सड़क बनी हुई है और दोनों ओर के दूर-दूर तक फैले ऊबड़-खाबड़ मैदान। और फिर उन मैदानों की सरहदें बनाती हुई पहाड़ियाँ। खड़ा वह फाटक पर रहता, पर मन उसका दूर-दूर दौड़ता रहता है। इन पहाड़ियों के पार क्या होगा, फिर उसके आगे क्या होगा, फिर उसके भी आगे? मन में तरह-तरह के चित्र उभरते हैं, डरावने भी और रंगीन भी। राक्षसों की डरावनी गुफाएँ, परियों के सोने-चाँदी के महल।

और फिर इन सबके बीच में से उभर आता है— कलकत्ता किस तरफ़ होगा? कितनी दूर होगा यहाँ से?

तब खट से उँगलियों का क्रॉस बन जाता। प्रॉमिस टूटने का पाप न लगे!

ममी की बगल में लेटा बंटी आसमान देख रहा है। झिलमिल-झिलमिल करते

तारे छिटके हैं आसमान में। सप्तऋषि मंडल है, वह आकाश-गंगा है, वह तेज़-तेज़ चमकनेवाला ध्रुवतारा है। इस तारे को दिखा-दिखाकर ही तो ममी ने उसे बालक ध्रुव की कहानी सुनाई थी।

पाँच साल के बच्चे ने तपस्या की थी। इतनी सारी तपस्या कि भगवान भी खुश हो गए।

कैसे करते होंगे तपस्या? उसने ममी के पास सरककर पूछा, "ममी, तपस्या कैसे करते हैं?"

"तपस्या? क्यों?"

"बताओ न ममी, मैं जो पूछ रहा हूँ।"

"अपने मन को मार लो, बस यही सबसे बड़ी तपस्या है।" ममी ने जैसे टालने के लिए कह दिया।

"बालक ध्रुव ने तो जंगल में जाकर तपस्या की थी, न?"

"की होगी रे!" और ममी ने तकिए में इस तरह मुँह गड़ा लिया जैसे वे अब और बात नहीं करना चाहती हों।

मन को मारना भी तपस्या करना हो सकता है क्या? मन तो आजकल वह भी कितना मारता है अपना, तो क्या वह भी तपस्या कर रहा है? एक अजीब-सी पुलक उसके मन में जागी। एक अजीब-सा आत्मविश्वास। कौन खुश होगा उसकी तपस्या से? भगवान... पापा...

खट से उँगलियों का क्रॉस बन गया। पर नहीं, वह पापा को याद थोड़े ही कर रहा है। वह तो केवल सोच रहा है कि खुश होकर पापा फिर से उनके साथ रहने लग जाएँ तो? यह तो ममी की बात हुई, ममी की खुशी की। इससे प्रॉमिस थोड़े ही टूटेगा। मन को तसल्ली हुई।

ममी से पूछे? पर नहीं, ऐसी बात भी ममी से नहीं पूछनी चाहिए।

हूँ। न हों पापा खुश। वह ममी को ही खुश करेगा। खुश नहीं, सुखी करेगा। उसके सिवाए ममी का है ही कौन? उसने ममी की ओर देखा। ममी ने तकिए में मुँह गड़ा रखा है। सचमुच उसकी ममी दुखी हैं।

जब भी वह ममी को लेकर आगे की बात सोचता, उसे हमेशा लगता जैसे ममी पर दुख ही दुख टूटे पड़ रहे हैं और वह अपने नन्हें-नन्हें हाथों से उन्हें दूर किए जा रहा है। कैसे दुख हैं सो नहीं जानता। उन्हें कैसे दूर कर रहा है यह भी नहीं जानता। बस, ममी दुखी हैं

वह ममी का अकेला बेटा उन्हें दूर कर रहा है।

कई बार मन होता ममी को यह बात बताए। पर कैसे? अच्छा, क्या तपस्या से पक्की कुट्टी को खत्म नहीं किया जा सकता?

"ममी?" उसने धीरे से पूछा।

"हूँ।"

"ममी, तपस्या करके ममी-पापा की कुट्टी नहीं खत्म की जा सकती?"

ममी ने सिर उठाया और एक क्षण उसका चेहरा देखती रहीं। फिर बाँह में भरकर उसे अपने में भींच लिया।

पापा की बात करके गलती तो नहीं कर दी उसने?

"तू पापा के साथ रहना चाहता है?"

"नहीं ममी, मैं पापा के साथ नहीं रहना चाहता। मैं तो.."

बंटी ने इस तरह कहा जैसे ममी कहीं उसे गलत न समझ लें।

"क्यों बेटा, तुझे पापा चाहिए? मन करता है कि पापा हों।"

बंटी एक क्षण असमंजस में रहा। हाँ कहने से कहीं ममी नाराज़ न हो जाएँ।

पर झूठ बोलने से तपस्या तो नहीं बिगड़ जाएगी? उसने धीरे से 'हाँ' कह दिया।

ममी उसके बाल सहलाती रहीं। पता नहीं उसमें 'पापा मिल जाएँगे' का आश्वासन था या 'पापा तो नहीं मिल सकते' की मज़बूरी।

आज ममी का कॉलेज खुल गया। ममी खुश-खुश कॉलेज चली गईं। उनकी तो बोरियत जैसे खत्म हुई। गरमी की छुट्टियों के ये लंबे-लंबे दिन दोनों ने एक-दूसरे को सहारा दे-देकर ही काटे हैं। सारे दिन ममी के साथ ही रहता था।

हाँ, कभी-कभी जब शाम को ममी बाहर जातीं तो वह ज़रूर थोड़ी देर अकेला हो जाया करता था। पर आज तो जैसे दिन भी उसे अकेले ही काटना है। उसका स्कूल खुलने में तो अभी चार दिन बाकी हैं।

चलने से पहले ममी ने फूफी को समझाया, "चार बजे के करीब सब लोग चाय पीने यहीं आएँगी। दही-पकौड़ी और आलू की टिकिया तुम घर में बना लेना। चिवड़ा और मिठाई मैं चपरासी के हाथ भिजवा दूँगी। मदद की ज़रूरत हो तो उसे रोक भी लेना। चार बजे तक सब कुछ तैयार रहे, हाँ!"

"मैं सब देख लूँगा ममी, तुम जाओ। चपरासी क्या करेगा, मैं मदद करवा दूँगा फूफी की।"

"मेरा राजा बेटा!" ममी से प्यार से गाल थपथपाया और चली गईं।

"बताओ फूफी, क्या करना है?"

"एल्ले, अभी से क्या करना है? कुछ नहीं, जाओ खेलो! घर तो साफ़ कर लूँ पहले।"

ममी की टीचर्स की पार्टी है। 'आज तो उसे बहुत काम करना है' के भाव से बंटी सफ़ाई में जुट गया। कपड़ा लेकर टेबल-कुर्सी पोंछ डाली। अपनी बुद्धि के हिसाब से जितनी साज-सज्जा कर सकता था, वह भी कर दी।

"अरे, तुम इतने समझदार कइसे हो गए, बंटी भय्या! आजकल न ज़िद करते, न झगड़ा करते, न रोते। कहाँ से आ गई इतनी अक्किल तुम में?"

"आएगी क्यों नहीं? अब क्या मैं बच्चा हूँ?" अपनी समझदारी का ठप्पा पड़ते देख बंटी कहीं भीतर ही भीतर पुलकित हो आया। मन हुआ फूफी को तपस्या वाली बात भी बता दे। यों भी फूफी उसके अकेलेपन की साथी है। वह उससे लड़ता भी है, उसे तंग भी करता है, उस पर रौब भी जमाता है। ज़मीन में चॉक या कोयले से शतरंज बनाकर चंगा-अंटा-पौ भी खेलता है। तो कभी उसकी गोद में सिर रखकर कहानियाँ सुनता है। फिर एक कहानी के साथ हज़ार प्रश्न।

तब फूफी बिगड़ पड़ती, "तुम इतनी बहस काहे करते हो? कहानी है सो है। बिना बोले सुनोगे तो सुनाएँगे, हाँ! खाली हुँकारा दो, बस!"

"अच्छा फूफी, बालक ध्रुव ने जो तपस्या की थी..."

"एल्लो, फिर तुम्हारा कहानी-किस्सा शुरू हुआ। हम एक बात भी नहीं करेंगे इस बखत।"

फूफी चली गई। बुद्धू कहीं की। सोच रही है, मैं ध्रुव की कहानी सुनूँगा, जैसे मुझे आती ही नहीं है।

बंटी अपनी छोटी-छोटी हथेलियों में उबले हुए आलू की गोल-गोल टिकिया बनाता जा रहा है। जैसी फूफी ने बताई ठीक वैसी ही। और कहानी चल रही है। वही सोनल रानी वाली।

रानी हँसे तो फूल झरे और रोए तो मोती झरे। राजा रानी के पीछे प्राण दे। रानी अपने हाथ से सोने के बरक में लपेटकर राजा को छप्पन मसालोंवाला, सुगंध से भरपूर पान खिलाती और मंद-मंद मुसकाती। मुसकान ऐसी कि राजा पागल। राजा की बीस रानियाँ और थीं। बीस रानियों के सौ बच्चे। सोनल बच्चों के पीछे प्राण देती। बच्चे खाएँ तो रानी खाए। बच्चे सोएँ तो रानी सोए। बच्चों का सिर दुखे तो रानी पीर से छटपटाए। बच्चों के चोट लगे तो रानी के फूल जैसे शरीर से खून झरे। कोई नहीं पतियाये तो आकर देख ले।

माएँ लोगों ने बहुत देखीं पर ऐसी माँ तो देखी न सुनी। अपने और सौतेले बच्चों में कोई भेद ही नहीं। देखते-सुनते भी कैसे? कोई सचमुच की औरत तो थी नहीं। डायन थी, सारे जादू बस में कर रखे थे। जैसा चाहती वैसा स्वाँग धर लेती।

"और जब अमावस्या के दिन रात अँधेरी घुप्प हो जाती तो वह अपने असली रूप में आती। काली भूत। अँधेरे में ऐसी घुल-मिल जाती कि पता ही नहीं लगता। फिर सबको जादू के बस में किया और एक बच्चा हड़प।"

बंटी की साँस जहाँ की तहाँ रुक जाती।

सवेरे मरे बच्चे की हड्डियों से चिपट-चिपटकर ऐसा रोती, ऐसा रोती कि चेत ही नहीं रहता। नौकर-चाकर दौड़ पड़ते। कोई गुलाब-जल छिड़कता, कोई केवड़ा-जल। राजा खुद फूलों के पंखे से हौले-हौले बयार करते, बेटे का गम भूल, रानी की चिंता में परेशान हो जाते। रानी होश में आती तो चीखती, 'मेरे बच्चे को लाओ...नहीं मैं प्राण दे दूँगी।' इतना बड़ा राज्य, इतना बड़ा राजा, फिर भी कोई पता ही नहीं...

"वह अपने बच्चों को भी खा जाती थी फूफी?" उस डायन के आतंक से पूरी तरह आतंकित बंटी बड़ी-बड़ी आँखें करके पूछता।

"और क्या! डायन बनने के बाद क्या उसे होश रहता कि किसका बच्चा है? बस भूख लगी, खाओ!"

"भूख लगे तो बच्चे को ही खा जाओ!"...उस मरे बच्चे के प्रति मन कैसा भीग-भीग आता बंटी का।

"भूख में आदमी तक को होश नहीं रहता, बस खाने को चाहिए, जो भी हो, जैसे भी हो, फिर वह तो डायन थी! अपनी भूख की चिंता करती या बच्चों की?"

"तो वह और किसी को खा लेती, नौकर-चाकरों या जानवरों को खा लेती।"

"काहे खा लेती? बच्चों के कोमल माँस जैसा और कहाँ मिलता!"

"तो कभी दूसरे बच्चों को क्यों नहीं खाती, केवल राजकुमारों को ही क्यों खाती?"

"खाएगी क्यों नहीं? छप्पन भोए खाए राजकुमारों की देही में जैसा माँस, वैसा और कहाँ मिलता!"

"तो धीरे-धीरे राजा के सब बच्चे खा गई?"

"और क्या, खा गई। सुंदर कोमल बच्चे हड्डी की ठठरियाँ बन गए। बस उन ठठरियों को देख-देखकर रोने का नाटक करती रहती..."

घिन और डर के मिले-जुले भाव से बंटी की आँखों में आँसू आ जाते। फूफी ने देखा

तो प्यार से झिड़कते हुए बोली, "ऐल्लो, तुम आँसू टपकाने लगे। अरे ये तो किस्सा-कहानी है। कहीं सच में ऐसा थोड़े ही होता है। सब झूठ, मनगढ़ंत! इन बातों से कहीं रोया जाता है, सुनो और भूल जाओ। नहीं हम आगे से कभी नहीं सुनाएँगे, हाँ।''

और उसने झट दूसरी कहानी शुरू कर दी— चार मूर्खों की। तो थोड़ी देर में ही बंटी खिलखिलाने लगा।

दौड़-दौड़कर बंटी ने मेज़ लगा दी और खड़ा होकर ममी की राह देखने लगा। अपनी सारी टीचर्स को लिए ममी आ रही हैं, हँसती हुईं, बतियाती हुईं। दीपा आंटी तो सबके बीच जैसे छिप ही गईं।

"कहो बंटी, कैसे हो?"

"हैलो बंटी, कैसे हो?" कइयों ने एक साथ पूछा।

"पहले से लंबा हो गया।" तो बंटी ने जैसे मन ही मन उसे सुधारा, "लंबा नहीं, बड़ा हो गया हूँ।"

"थोड़े मोटे भी होओ, वरना सींकिया पहलवान लगोगे।"

"बंटी ने मौका ताका और दीपा आंटी की बाँह से झूल गया। ममी की सारी टीचर्स में एक यही तो पसंद है, बाकी तो सब बेकार।"

आप छुट्टियों में एक बार भी घर क्यों नहीं आईं आंटी?

"छुट्टियों में हम यहाँ थे ही नहीं, बताओ कैसे आते? हर साल बंटी बाहर जाता था, इस बार हम बाहर चले गए।"

घसीटता हुआ वह दीपा आंटी को लॉन की तरफ़ ले गया अपने पौधे दिखाने के लिए।

"कहाँ गई थीं आप?"

"कलकत्ता।"

कलकत्ता? बंटी जैसे एक क्षण को पुलक आया। एक उड़ती-सी नज़र ममी की ओर डाली। वे सबको लिए बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़ रही थीं।

"आपने क्या-क्या देखा वहाँ? कैसा है कलकत्ता, आंटी?"

"बहुत बड़ा और बहुत गंदा।"

"एलगिन रोड देखी आपने?"

"नहीं तो!"

"लीजिए, एलगिन रोड भी नहीं देखी?"

"मैं क्या वहाँ सड़कें देखने गई थी? क्या है एलगिन रोड में?"

"कुछ नहीं, वैसे ही पूछ लिया था।" बंटी पापा की बात नहीं बताएगा। किसी को बताना भी नहीं चाहिए उसे। अब तो वह सब समझता है।

दीपा आंटी अंदर जाने लगीं तो उसने जल्दी-से मोगरे के दो–तीन फूल तोड़े और बोला, "नीचे झुकिए, मैं आपके जूड़े में लगाऊँगा।"

हँसती हुई दीपा आंटी झुक गईं, "लगाना आता भी है?"

"और नहीं तो क्या, ममी के बालों में रोज़ मैं ही तो फूल लगाता हूँ। यह सब पौधे भी तो मैंने ही लगाए हैं।" अपने पौधों की बात करते समय बंटी के मन में उत्साह और गर्व जैसे छलका पड़ता है।

बंटी ला-लाकर सबको खिला रहा है। मना करने पर मनुहार भी करता है... "एक तो लीजिए... ज़रा-सी और...यह गरमवाली टिकिया..." सब लोग खाने और बतियाने में समान रूप से जुटी हुई हैं।

कितना बोलती हैं ये सब लोग? जब से आई हैं लगातार चकर-चकर किए जा रही हैं। लड़कियों को कैसे चुप रखती होंगी? अच्छा, उनके स्कूल के सर लोग भी जब आपस में मिलकर बैठते होंगे तो इस तरह बातें करते होंगे? बच्चों को तो सब लोग कैसा डाँटते हैं– चुप रहो, शोर मत करो। क्या क्लास को भाजी-मार्केट बना रखा है?

उसने कभी भाजी-मार्केट देखा नहीं...शायद बहुत शोर की जगह होती होगी! जितना शोर यहाँ हो रहा है, उससे भी ज़्यादा?

"भई बंटी तो बहुत समझदार हो गया है।"

"एकदम राजा बेटा की तरह काम कर रहा है।"

"हमारी पिंकी तो लड़की है। पर एक भी काम तो करवा लो ज़रा। एक बात कहो कि दस जवाब हाज़िर हैं।"

"अरे मिसेज़ बन्ना का बेटा है आखिर। होशियार नहीं होगा।" मोटी मिसेज़ सक्सेना बोलीं।

हूँ, मक्खनबाज़ कहीं की। वह जानता है, कोई उसकी तारीफ नहीं कर रहीं, सब ममी को मक्खन लगा रही हैं। एक बार कॉलेज गया था तो यही मोटी बड़े गाल सहला-सहलाकर कहती रहीं– "हाऊ स्वीट, जानती हो कितना इंटेलिजेंट है यह?" और जैसे ही वह पीछे मुड़ा धीरे से बोलीं– अरे मिसेज़ बन्ना ने बिगाड़कर धूल कर रखा है, इतना ज़िद्दी और सिर-चढ़ा लड़का है कि बस। प्रिंसिपल का लड़का है सो कोई कुछ कहता नहीं— मोटी चापलूस कहीं की। माथे पर बिंदी इतनी बड़ी लगाएँगी जैसे पैसा ही चिपका

लिया हो। बस, एक दीपा आंटी अच्छी हैं, जो न कभी इस तरह की तारीफ़ करती हैं न बुराई। मौका मिले तो उसके साथ खेलती भी हैं।

चाय समाप्त हुई तो सब लोग बाहर के कमरे में आ गईं। वह दीपा आंटी की कुर्सी पर ही बैठ गया। उनसे सटकर, एक तरह से उन पर लदकर। ममी ने पास के रैक पर से फाइल उठाई, बीच की मेज़ अपनी तरफ़ खींचीं और ढेर सारे कागज़ फैला लिए।

"दीपा आंटी, आप गाना नहीं सुनाएँगी?"

"देखो बच्चा, ममी अब मीटिंग कर रही हैं, समझे?" लाड़ में वे उसे हमेशा बच्चा ही कहती हैं।

"ममी, हम दीपा आंटी का गाना सुनेंगे, आंटी को गाना सुनाना ही होगा।" और वह पूरी तरह दीपा आंटी की गोद में ही लद गया, कुछ इस विश्वास के साथ कि ममी उसकी बात टाल ही नहीं सकती हैं। इतना काम उसने आज किया है, अब तो वैसे भी उसका अधिकार हो गया है।

"बंटी बेटा, अब हम लोग ज़रा काम की बात करेंगे, कॉलेज की; तुम बाहर जाकर खेलो तो!"

ममी की बात बंटी को जैसे कहीं से चीर गई। एक क्षण वह ममी को इस तरह देखता रहा जैसे विश्वास नहीं कर पा रहा हो कि ममी ने उसे ही बाहर जाने को कहा है।

फिर धीरे से उठा और बाहर आ गया, अपमानित-सा, आहत-सा। तो उसकी इच्छा से भी ज़्यादा ज़रूरी काम ममी के पास है। कॉलेज की बात कॉलेज में कर लेतीं, घर में तो कम-से-कम उसकी बात ही माननी चाहिए। वह तो कब से सोच रहा था कि शाम को दीपा आंटी का गाना सुनेगा फिर अपनी कविताएँ सुनाएगा, चुटकले सुनाएगा, पहेली पूछेगा। ऐसी-ऐसी पहेलियाँ उसे आती हैं कि कोई बता ही नहीं सकता। लड़कियों को पढ़ाना आसान है, पहेली क्या हर कोई बता सकता है? पर अब कुछ नहीं...ममी को ऐसे तो नहीं करना चाहिए था न? और न चाहते हुए भी ममी को लेकर जाने कितना-कितना गुस्सा मन में उफनने लगा।

पर तभी सारे गुस्से और दुख को ठेलती हुई समझदारी आई– ममी प्रिंसिपल हैं, कितने ज़रूरी-ज़रूरी काम उनको रहते हैं, उसे इस तरह गुस्सा नहीं होना चाहिए। कुछ नहीं, दो महीने से ममी सारे दिन घर जो रहती थीं, सो वह कॉलेज की, कॉलेज के काम की भी बात भूल ही गया था इसीलिए तो गुस्सा भी आ गया, वरना तो इसमें गुस्से की कोई

बात ही नहीं है। कॉलेज खुल गया है तो कॉलेज का काम भी होगा ही। टीटू के पापा नहीं ऑफिस की फाइलें लेकर घर में बैठे रहते हैं। फिर उस कमरे में कोई घुस तो जाएँ देखें? ऐसा फटकारते हैं कि बस! ममी ने तो कितने प्यार से कहा। उसके पापा भी फाइलें लेकर आते होंगे?

खट से उँगलियों का क्रॉस बन गया। फिर भी कहीं एक धुँधली-सी तस्वीर उभर ही आई...फाइलों में डूबे हुए पापा।

"नहीं-नहीं..." उसने अपने मन को समझाया।

सब लोगों को विदा करके ममी जल्दी से तौलिया लेकर बाथरूम में घुस गईं।

अब वह ममी के साथ खेलेगा। फिर रात में कहानी सुनेगा, खूब लंबीवाली। आज कितना काम किया है उसने। ममी जब कॉलेज का काम करने लगीं तो बाहर भी आ गया। अब न कॉलेज है न कॉलेज का काम। अब ममी फिर उसकी हो गई हैं, बिल्कुल उसकी। पता नहीं क्यों ममी और उसके बीच में कोई भी आता है तो उसे अच्छा नहीं लगता।

कॉलेज के दिनों में तो वैसे भी शाम को ही ममी उसकी हुआ करती हैं। बालों की ढीली-ढीली चोटी और मुलायमवाला चेहरा।

"लो, बातों ही बातों में टाइम का कुछ अंदाज़ ही नहीं रहा। सात बजे पहुँचना था और पौने सात तो यहीं बज गए।"

"तुम कहीं जा रही हो ममी?" अपने को रोकते-रोकते भी बंटी रुआँसा हो आया।

"बेटे, एक बहुत ज़रूरी काम से जाना है, बहुत ही ज़रूरी।" ममी के सधे हुए हाथ खटाखट जूड़े में पिनें खोंसते जा रहे हैं।

"वाह! मैं अभी भी अकेला रहूँ। आज तो सारे दिन बिल्कुल अकेला रहा हूँ ममी।" गुस्से में भरा बंटी का स्वर भर्रा गया।

एक क्षण को ममी का हाथ जहाँ का तहाँ रुक गया। बंटी की ओर देखा, बहुत प्यार से। फिर अपने पास खींचकर दुलारती हुई बोलीं, "मेरा राजा बेटा, अकेला क्यों रहेगा? टीटू को बुला लेना या उसके यहाँ चले जाना। बस थोड़ी देर में तो आ ही जाऊँगी।"

"टीटू बुलाने से भी आता है इस समय कभी? इस समय वहाँ जाओ तो उसकी अम्मा..."

"न हो तो साथ ले जाओ न बहूजी।" दरवाज़े पर बैठी सुपारी काटती हुई फूफी ने कहा। "सवेरे से तो अकेला डाँव-डाँव डोल रहा है। आपके साथ थोड़ा टहल आएगा तो मन बहल जाएगा बच्चे का।"

बंटी ने बड़ी आशा-भरी नज़र से देखा। शायद फूफी की सिफ़ारिश ही काम आ जाए।

"कहा न, मैं काम से जा रही हूँ फूफी। वहाँ कहाँ ले जाऊँगी?" जल्दी-जल्दी साड़ी पहनते हुए ममी ने कहा।

"काम से जा रही हो तो क्या हुआ? बच्चा होगा तो क्या फेंक जाएँगे? दो मिनट में तैयार किए देती हूँ।"

"नहीं, बंटी मेरा खूब समझदार है। मेरे काम के बीच में वह क्यों जाएगा? एक साल से तो कभी कॉलेज भी नहीं जाता। वह क्या समझता नहीं कि बड़ों के बीच में नहीं जाना चाहिए।"

फिर गाल पर एक ज़ोर का किस्सू देकर पूछा, "है न बेटा समझदार!" ममी चली गईं। लोहे के फाटक पर खड़ा-खड़ा बंटी जाती हुई ममी को देखता रहा, आँखों में भर आए आँसुओं को भीतर ही भीतर पीता रहा।

और तब पहली बार बंटी ने महसूस किया कि समझदार बनना कितना मुश्किल है। ममी की नज़रों में समझदार होकर रहने का मतलब है, कुछ भी मत कहो, कुछ भी मत करो। दूध उसे पसंद नहीं, फिर भी बिना चूँ किए पी लेता है। जो खाने को दो, खा लेता है। जो कुछ करने को कहा जाता है, कर लेता है।

पर ममी भी तो बड़ी हैं, समझदार हैं। उन्हें भी तो वही सब करना चाहिए जो बंटी चाहता है। नहीं क्या?

अनमना-सा बंटी भीतर आया। बरामदे में ही फूफी ज़मीन पर पसरी पड़ी है।

"ऐसे क्यों लेटी हो फूफी, क्या हो गया।"

"अरे, हम थक गए भय्या, ज़रा कमर सीधी कर लें तो बरतन धोकर चौका साफ़ करें।"

बंटी को लगा जैसे ममी फूफी को थकाकर खुद चली गईं। फूफी, फूफी की थकान उसे कहीं अपने बहुत करीब लगी।

"मैं पैर से कमर दबा दूँ? अभी ठीक हो जाएगी।"

फूफी उठकर बैठ गई। एकदम बंटी को देखते हुए बोली, "अरे, तुम्हें हो क्या गया है बंटी भय्या? और सुनो, तुम चले काहे नहीं गए ममी के साथ? पहले तो कभी अइसे छोड़कर जाने की बात करतीं तो जाने देते तुम? सारे आँगन में लोट-लोटकर अपना और ममी का जी हलकान कर देते। यह उमिर से पहले बूढ़ा होना हमें अच्छा नहीं लगता तुम्हारा, समझे? जाओ, खेलो-कूदो। सेवा-चाकरी करने को तुम्हीं रह गए हो हमारी?"

तो एकाएक बड़ी ज़ोर से मन हुआ बंटी का कि सारे आँगन में लोट-लोटकर रोए-खूब रोए बिल्कुल पहले की तरह और जब तक ममी न आ जाएँ रोता ही रहे। ममी चुप करा-कराकर थक जाएँ, तब भी चुप न हो।

रात में जब ममी डॉक्टर जोशी की कार से उतरीं तो बंटी लोहे के फाटक पर खड़ा मन ही मन कहीं रो ही रहा था।

"कैसे हो बंटी?" कार में बैठे-बैठे ही डॉक्टर साहब ने पूछा।

"मैं बिल्कुल ठीक हूँ। मुझे तो कुछ भी नहीं हुआ।" उसने कुछ इस भाव से कहा मानो पूछ रहा हो, "आप यहाँ क्यों आए?" डॉक्टर साहब की लगाई हुई सुइयों का दर्द और डर मन में फिर ताज़ा होकर उभर आया।

अँधेरे में ही ममी को देखा। वे भी बिल्कुल ठीक लगीं। तब? और रात में जब वह ममी की बगल में लेटा तो बराबर प्रतीक्षा करता रहा कि ममी कुछ कहेंगी। उसने आज जितना काम किया उसके बारे में ही। पर ममी तो इतनी चुप हैं मानो उन्हें पता ही न हो कि बंटी भी उनके पास लेटा है।

ममी उसके पास लेटी बाल सहला रही हैं। पर उसे लग रहा है कि ममी उसके बाल नहीं सहला रहीं। ममी उसे देख रही हैं, पर नहीं, ममी उसे देख भी नहीं रहीं।

"ममी!"

"हूँ!"

"तुम तो बहुत ही ज़रूरी काम से गई थीं, फिर..."

"था रे, एक काम।"

ममी तो शायद उससे बोल भी नहीं रहीं। और तब बंटी का मन हुआ कि फूट-फूटकर रो पड़े।

## संवाद

1. बंटी को दीपा आंटी क्यों पसंद हैं?
2. अंत में बंटी फूट-फूटकर क्यों रोना चाहता है? बंटी की जगह आप होते तो क्या करते?

# देवा की माँ

— ***कमलेश्वर***

*कमलेश्वर नई कहानी आंदोलन से निकले प्रसिद्ध कथा शिल्पी हैं। उनकी कहानियों में कस्बे और साधारण लोगों का जीवन बहुधा आया है। 'देवा की माँ' एक ऐसी स्त्री की कहानी है जो परित्यक्ता है और स्वाभिमान से अपना जीवन व्यतीत कर रही है। एक स्त्री का तेजस्वी चित्र इस कहानी को मार्मिक और अविस्मरणीय बनाता है।*

उसकी माँ दरियाँ बुनती थी और यह बेकार था। दरियाँ बुनने का भी कोई ऐसा बँधा हुआ सिलसिला नहीं था, जिसे काम कहा जा सके। कभी कोई अपनी ज़रूरत से बुनवा लेता और कभी बेज़रूरत भी– उसे काम देने की नीयत से दे देता, या बरसों का कोई गद्दा-लिहाफ जब जवाब दे जाता, उपल्ला और अस्तर फट जाता और बदरंग नामा भीतर से झाँकने लगता, तो उसे काम में ले आने का एक यही तरीका था कि उसे देवा की माँ को दे दिया जाए और वह महीने-दो-महीने में दरी बुनकर दे जाए। मेहनत-मजूरी का दाम धीरे-धीरे पटता रहता, क्योंकि कोई धंधा तो था नहीं कि इस हाथ ले, उस हाथ दे। यही क्या कम था कि ज़रूरत पड़ने पर उसे कहीं-न-कहीं से पैसे मिल ही जाते।

यहाँ के ये सारे परिवार एक-दूसरे से बेतहर जलते थे, कुढ़ते थे; पर वक्त की मार ने उनकी जवानी को कुंद कर रखा था, हर एक की बेबसी ने एक अनदेखे धागे में बड़े ही आश्चर्यजनक रूप में उन्हें बाँध रखा था, जिसका कोई सिरा नज़र नहीं आता था। यही वज़ह थी कि जवान होते हुए भी, देवा के बेकार रहने को, लोगों ने बड़ी निस्संग स्वाभाविकता से स्वीकार कर लिया था।

देवा जब अपने चारों ओर नज़र घुमाता तो उसे यह सब खलता। खुद अपनी माँ की बेईमानी चुभती; जो दरियों के लिए रूहड़ लेते वक्त पन्सेरी पर आधा सेर ज़्यादा लेने की नीयत से, मैल के एवज में साढ़े पाँच सेर के लिए झगड़ती, और इस तरह आधा सेर रुई बचा-बचाकर आठ–दस दरियों के बाद, एक अपनी निजी दरी बनाकर बेच लेती। वह अपने चारों तरफ़ जब लोगों को देखता तो उसे लगता कि उनके चेहरे एकदम एक-से हैं, जिन पर नफ़रत, प्यार, प्रशंसा या निंदा— कुछ भी तो नहीं उभरती। अजीब-सी एकरसता थी, जैसे एक शंकर-से योगी हैं, जो विष पी-पीकर स्थिर-से बैठे हैं, आँखें मूंदे!

इसीलिए वह घर से भागा-भागा रहता। मौलवी साहब के अस्तबल में लगे शास्त्री के छापाखाने में बैठा रहता, वहाँ की एकरस आवाज़ से जब मन ऊबता तो ठाकुर की इमली के नीचे वाले चबूतरे की महफ़िल में पहुँच जाता। कस्बे-भर की सनसनीपूर्ण खबरें उसे शास्त्री के छापाखाने में मिलती रहतीं और सरकार के कारनामों की सूचनाएँ ठाकुर की महफ़िल में जमा होने वाले बेसिक और नॉर्मल स्कूल के अध्यापकों और पण्डितों से मिलतीं। इन दोनों ही जगह उसे ऐसे आदमी दिखाई पड़ते थे जो अपनी बातों और अपने स्वार्थों से अलग-से होकर आस-पास और दूर-दूर के सुख-दुख और संघर्ष के प्रति जिंदा दिखाई पड़ते थे...यहाँ आकर जैसे वह अपने को भुला बैठता और बहुतों की पाँत में शामिल हो जाता। इसीलिए कभी-कभी अनचाहे– बिना सोचे, उसे देर हो जाती। सुबह से आ-जमता तो बातों में वक्त का अंदाज़ न रहता। दोपहर चढ़े जब घर पहुँचता तो दिल छोटा होने लगता, ख्याल आता, इतना वक्त बेकार बरबाद कर दिया, इससे अच्छा होता कि अम्मा के काम में हाथ बँटाता, और कुछ न सही तो रूहड़ ही नोचता, जिससे धुनकने के लिए डाली जा सकती या सूत की लच्छियाँ ही बनाता, जिससे रंगने में आसानी होती। घर में घुसता, बरामदे में ही अड्डा सजा होता, सूत का जाल पुरा होता और रंगीन सूत की पण्डियाँ इधर-उधर लुढ़कती होतीं, कसने वाला हत्था एक ओर पड़ा होता और अम्मा बैठी सूत काततती होती या रूहड़ नोचती होती। आहट सुनकर बिना उसकी ओर देखे उठती और कोठरी में घुस जाती। डिबिया में से लंबी ज़ंजीर वाली घड़ी निकालती, घड़ी हथेली पर रखती तो ज़ंजीर हथेली के उस पार झूल जाती; उसे कुछ क्षण देखती... एकटक...जैसे सुइयों की गिनती पढ़ने में उसे कुछ याद आता हो...

और तभी देवा का मन भर आता, अपनी बेपरवाही और उदासीनता पर पश्चाताप होता। सोचता, आखिर माँ भी तो घर में अकेली पड़ी रहती है, कहीं आती-जाती नहीं। क्या उसका दिल नहीं भटकता होगा? फिर माँ पर कुछ झुँझलाहट भी होती कि ये कुछ

बोलती क्यों नहीं, देर से आने पर डाँटती क्यों नहीं, कुछ पूछती क्यों नहीं? पर वह नहीं पूछती। जैसे सब स्वीकार कर लिया हो। लेकिन तभी उसे लगता कि वह कितने पीड़ित मौन से सब-कुछ पूछ लेती है। जब कोठरी में घड़ी देखने जाती है तो शायद वह अपने से ही उत्तर माँगती है कि देवा अब तक कहाँ रहा? और फिर उसके बाद सुइयों पर नज़र गड़ाकर कुछ कहती है कि देखो, तुम्हारा देवा कैसा हो गया...मेरा कुछ भी ख्याल नहीं रखता, क्या इसकी उम्मीद भी छोड़ दूँ?

और तब देवा की आँखें नम हो जातीं, वह अपने को सारी बातों का ज़िम्मेदार पाता। उसे पिता की याद आती, जिसे उसने देखा तो था पर कभी महसूस नहीं किया।

माँ कोठरी से निकलती, आसन बिछाती और खाना परोसकर देवा को आवाज़ देती, "आ देबू, ज़रा पानी रख ले दो गिलास..."

तब देवा को पता चलता कि माँ भी बिना खाए बैठी रही है, कहता, "अम्मा तुम खा लेती न, मैं जरा मास्टरजी के पास गया था। उनके हाथ में पचास-साठ की नौकरी तो रहती ही है। शायद अब से स्कूल खुलने पर कुछ ख्याल कर लें..." पर झूठ बोलते उसे कुछ न लगता, कह चुकने के बाद माँ के चेहरे की स्थिरता जैसे उसे धिक्कारती और वह अपने में सिमट जाता...माँ धीरे से मुस्करा देती और कहती, "रामलाल की एक दरी बनानी है, सून तो तैयार है, तू कल रंगरेज से रंगवा दे, झटपट निबटा लूँ..."

"अम्मा, घर पर पर ही रंग लें, बाज़ार में बहुत दाम पड़ते हैं।"

"पक्का रंग तो घर पर मैं तैयार कर लूँ, पर कुटाई नहीं होती, और बिना कूटे रंग नहीं चढ़ता, मेरा तो कंधा बेकार है, नहीं तो..."

"अरे कुटाई मैं करूँगा...कल तुम औटाकर रंग बना देना, फिर सब मेरा काम..."

और दूसरे दिन देवा जब उठता तो खुद जाकर चूल्हा सुलगाता और कहता, "अम्मा, पहले रंग औटा लो, फिर बैठा मैं कूटता रहूँगा तब तक तुम खाना बना लेना..."

माँ पतीला चढ़ा देती, रंग की पुड़िया चूल्हे के पास लाकर रख देती और पटा डालकर बैठ जाती तो देवा देखता— कुछ देर तो लगेगी ही, ज़रा बाहर निकलता, फिर आकर झाँक जाता कि अब माँ ने पानी में रंग डाला या नहीं। फिर निकल जाता और निकलता तो निकल ही जाता। जब वापस आता तो धूप चढ़ आई होती, दोपहरी तपती होती और माँ पटिया पर सूत रखे, हाँफते-हाँफते कूटती होती। बालों की लटें रूखी-सी झूलती होतीं, बाँहों की नसें सूत-सी उभर आतीं और उसके हाथ रंग से बदरंग होते। माँ आहट सुनती तो लच्छियों को तार पर फैलाकर कोठरी में घुस जाती।

इसी तरह दिन बीतते जाते और देवा को कभी यह महसूस भी न हो पाता कि आखिर यह सब कैसे चलता जाता है। माँ किन ख्यालों में डूबी रहती है। और क्या सोचती रहती है। और न वह पूछ ही पाता, क्योंकि जब भी पूछने का अवसर आता तो वह घड़ी और उसकी सोने की ज़ंजीर बीच में आ जाती। माँ उदास दिखाई पड़ती और वह स्वयं अपने प्रति असंतोष से पछताता होता। यदि वह कोशिश भी करता सो साहस न पड़ता...क्योंकि उस घड़ी और उसकी सोने की ज़ंजीर से उसके पिता का इतिहास जुड़ा था, जो कहीं स्टेशन-मास्टर थे और वर्षों से दूसरी शादी करके अपने बाल-बच्चों के साथ रह रहे थे। उसने सिर्फ़ इतना सुना था कि पाँच वर्ष पहले वे कुछ घंटों के लिए माँ से मिलने आए थे। तब दूसरी शादी कर चुके थे। माँ ने कहीं से उधार लाकर उनके लिए खाना बनाया था, पर उन्होंने खाया नहीं था। उस वक्त पड़ोस की औरतों ने माँ से कहा था कि अपनी और देवा को परवरिश के लिए कुछ माहवार तै कर लेना चाहिए, पर माँ ने वह बात ही नहीं उठाई। चलते वक्त पिता ने माँ से कहा था कि घड़ी की ज़रूरत पड़ जाती है कभी-कभी, उसे दे दो तो लेता जाऊँ। तो माँ ने जवाब दिया था कि यही एक चीज़ पास रह गई है जो देवा को भी उसके वक्त का ज्ञान कराती रहती है। हाँ, यदि सोने की ज़ंजीर की ज़रूरत हो तो वह ले लें। पर पिता ने बात खुल जाने के कारण और घड़ी माँगने के पीछे ज़ंजीर की असली ख्वाहिश जाहिर होने के कारण, आगे बात नहीं बढ़ाई थी और चले गए थे।

उनके जाने के बाद बगल के मकान की बूढ़ी बातों का पता लगाने आई थी, क्योंकि उस दिन सभी घरों में यही चर्चा थी...पीछे-पीछे देवा की माँ की बुराइयाँ भी बड़ी ईमानदारी से बयान की जा रही थीं और उससे भी ज़्यादा ईमानदारी और चिंता से उसकी सहनशक्ति, संतोष और मुसीबतों को दोहराया जा रहा था। वृद्धा आकर वहाँ बैठी और उसने पूछा था, "क्यों देबू की माँ, बातचीत का कैसा रवैया था उनका?"

"वैसा ही था चाची, सचमुच कोई फरक नहीं था...मैं तो समझी थी कि पता नहीं कैसे पेश आएँ, पर सुभाव नहीं बदला। तन से तो एकदम बदल गए हैं। मैं तो पहली नज़र में पहचान नहीं पाई, अभी से सामने के दो दाँत बदलवाने पड़ गए हैं..."

"अच्छा, बात क्या-क्या हुई? तुम्हारी बातों का क्या जवाब दिया?"

"मैं तो उन्हीं की सुनती रही चाची, बीच-बीच में खामोश हो जाते थे, लगता था कि अपने किए पर उन्हें दुख हो रहा है, ऐसे में क्या कुरेदती? कह रहे थे, मन नहीं जमता कहीं। बड़ी देर तक समझाते रहे थे कि क्या-क्या सोच रहे हैं। फिक्रों से परेशान थे...चलते वक्त घड़ी मुझसे ज़रूर माँगी थी, सो मुझसे देते न बनी...पता नहीं कैसा मोह हो गया है उससे..."

"तो उनकी ये सब फ़िक्रें और दुख सिर्फ़ घड़ी के लिए ही था, उसकी ज़ंजीर तो सोने की है न!" बूढ़ी ने निष्कर्ष निकालते हुए कहा था।

"सो नहीं चाची, उन्हें लेना ही होता तो क्या मैं इनकार कर पाती! मैंने कहा था कि चाहे तो ज़ंजीर लेते जाएँ, पर उन्होंने फिर उसकी बात ही नहीं की।"

"हिम्मत नहीं पड़ी होगी, नहीं तो अब वे तुम्हें क्या समझते होंगे..."

"ऐसी बात नहीं चाची, उनमें ये सब बातें थीं ही नहीं...आदमी में वैसे भी खोट नहीं होता, उससे कुरस्ता तो औरत ही डालती है। मैं तो घर रहती थी, ये ड्यूटियों पर दौड़ते रहते थे, महीनों बाद आना होता था। वहीं वह मिल गई और उसने बहका लिया। औरत चाहे तो अच्छे-भले आदमी को उलझाते कितनी देर लगती है! अगर उन्होंने यह सब समझ-बूझकर ही किया होता तो भला यहाँ आते? और असल बात यह थी चाची कि मैं उनसे घुल-मिल ही नहीं पाई थी। ससुराल में रहते घर की भीड़-भाड़ और हया-शरम में कभी अपनेपन की बात ही नहीं कर पाई। उन्होंने मुझे जाना ही नहीं और अनजाने में जो कर बैठे वह तो हो ही गया..."

"अरे ऐसे सोचने से काम नहीं चलता, सब ऊँच-नीच देखा करो देबू की अम्मा! आदमी इतने सीधे नहीं होते। हर बात के पीछे मतलब होता है इनका...तुम्हें अपनी परवरिश की बात चलानी थी..." बूढ़ी ने बात का तार फिर पकड़ते हुए कहा।

"कहा तो, क्या चलाती...मैं तो संतोष किए बैठी हूँ। दो-तीन साल की और देर है, तब तक देबू करने-धरने लायक हुआ जाता है। काहे को कहीं मुँह डालूँ? देवा की फ़िक्र थी उन्हें भी, कह रहे थे, वैसे वो अपने पास बुला लेते, पर मेरा भी लगकर रहना नहीं हो पाता, इसीलिए सोचता हूँ, जैसा वहाँ तैसा यहाँ। अगर रहे तो मेरी निगाह के सामने रहे, नहीं तो तुमसे अच्छा और कौन होगा उसके लिए। उसके लिए बड़ी हिदायतें देते रहे थे। कहते थे तुम्हीं से सब कुछ सीखेगा। आजकल लड़कों को हवा लग जाती है। तुम्हारा डर-खौफ अगर उसके ऊपर से उठ गया तो बिगड़ जाएगा। अपने को सँभाले रहना, जिस घर में जन्मी हो उसका ध्यान रखना। बड़ी ऊँची शान रही है तुम्हारे बाबूजी की..."

बूढ़ी थोड़ी देर बाद उठकर चली गई थी।

तब से देवा पर उसकी नज़रें और भी सतर्कता और प्यार से जम गई थीं। वह देवा को पेट काट-काटकर पढ़ाती रही, और जब वह पढ़-लिखकर बेकार बैठ गया, तब भी वह उसे उसी तरह देखती रही। उसके इधर-उधर बैठने को सतर्क नज़रों से निहारती रही और जब-जब देर से लौटने पर वह झूठ बोलकर अपने को भुलावा देता तो उसके उस भ्रम

को तोड़ने की उसने कभी कोशिश नहीं की। आखिर उसके भ्रम को तोड़कर वह कौन-सी सच्चाई उसे दिखा सकती थी? इस बात को वह खूब जानती थी।

एक रोज़ जब वह घर लौटा था तो हमेशा की तरह देर हो गई थी। उस रोज़ उसके साथ एक आदमी और था, जिसकी साइकिल के पीछे किताबों का ढेर बंधा था और सामने हैण्डिल पर लटके झोले में अखबार भरे थे। उस आदमी की आँखों में एक अजीब-सा विश्वास था, और उसके चेहरे पर मेहनत की कठोरता थी। देवा दरवाज़े पर खड़ा-खड़ा कुछ देर उससे बातें करता रहा और जब भीतर आया था तो उसकी बातों में द्विविधा या झिझक नहीं थी। जैसे मन का गुबार एकदम बाहर छोड़ आया हो और अपनी सार्थकता का अनुभव करने लगा हो, आकर बोला था, "अम्मा, तुम खा लिया करो। मेरे इंतज़ार में बैठे रहना ठीक नहीं। मेरा तो पैर निकल गया है..."

सुनकर माँ को ऐसा लगा था कि मन में आज तक जो टूटन थी वह शायद भर रही है, पर उसे कुछ दुःख भी हुआ था कि कहीं देवा उसकी तरफ़ से एकदम बेपरवाह न हो जाए। वह दिन-दिन-भर वहशियों की तरह घूमता और रात गए देर तक कुप्पी के प्रकाश में न जाने क्या-क्या पढ़ता। अब देर से आने पर उसे संकोच न होता तो माँ के दिल पर घूँसा-सा लगता। उसे चिढ़ भी होती, दुख भी होता, और एक अजीब अव्यक्त-सा सुख भी मिलता। उसे लगता कि देवा कुछ अच्छा कर रहा है, पर यह अपनी तरफ़ से बेपरवाही भी बुरी है।

एक दिन उसे पता लगा कि देवा राजनीतिक आदमियों के साथ उठने-बैठने लगा है, उनके साथ झोला डाले इधर-उधर घूमता रहता है। अब वह अपने बारे में या घर के बारे में उतना चिंतित नहीं है, जितना कहीं दूर बैठे लोगों या शहर के दूसरे लोगों के लिए है। कभी-कभी रात को भी बाहर रह जाता। घरों में देवा की चर्चा होती कि वह अखबार बेचने लगा है। बेकार आदमियों की तरह घर-घर दौड़ता फिरता है और चार पैसे का अखबार पहुँचाता है। चर्चा अगर बुराइयों पर चल पड़ी तो देवा और उसकी माँ को एकदम काला करार दे दिया जाता और कभी अच्छाइयों पर मुड़ गई तो उसकी जीवनी-शक्ति के सामने सब सिर झुका देते।

और वह सोचती...देवा भी सपनों में उलझा जा रहा है। उसमें जो आग सुलगी है, जो स्थिरता आई है, वह उसे शक्ति देगी; पर वह दीन-दुनिया की नंगी बातें करता है, उसकी बातों में कच्चापन है, पर बचपना नहीं। और माँ को लगता है कि देवा अब निपट अकेला नहीं है, वह बहुतों से अनदेखे रूप में जुड़ गया है...

पर यह बात भी उसके दिल में बहुत नहीं जमती, आखिर इससे होना क्या है? इसीलिए सोचते-सोचते बात मुँह से निकल ही पड़ी। देवा अखबार बाँटकर आया था। माँ ने खाते वक्त उससे कहा था, "देबू, तुम्हारा यह अखबार बेचना हमें अच्छा नहीं लगता..."

देवा चुप ही रहा था। जब खाना खाकर चलने लगा तो माँ ने रोककर कहा, "यह पाँच सेर सूत लेते जाओ, सामने तुलवाकर देना, जब आना तब रंगवाकर लेते आना..."

देवा ने सुना और एक झोले में सूत भर लिया। पूछा, "कौन-से रंग में रंगेगा?"

"चार सेर नीला और एक सेर पीला, 'बाडर' के लिए।"

चलते-चलते उसे याद आया तो बोला, "अम्मा, मुझे समय नहीं मिलेगा, तुम मेरा कुरता ज़रा धोकर डाल देना, इस्तरी मैं कर लूँगा, कल के लिए कोई कुरता नहीं है।" अम्मा ने हूँ की और वह चला गया।

माँ ने कुरते को साबुन से धोकर, कलफ़ और नील लगाया, तार पर फैलाया और इंतज़ार किया, पर देवा नहीं आया। खाना बनाकर बैठी रही, पर वह नहीं लौटा। रात आई और चली गई लेकिन देवा के वापस आते पैरों की आहट नहीं सुनाई पड़ी। तुलसी के बिरवे के ऊपर बँधी अलगनी पर उसका कुरता सूखकर सिकुड़ गया, पर वह नहीं लौटा। माँ की आँखों से नींद उड़कर उसे खोजती रही लेकिन किसी सूने पहर में भी वह वापस नहीं आया। और माँ ने यह भी स्वीकार कर लिया। अलगनी से कुरता उतारकर, तह कर बक्से में रख दिया। पता नहीं किस वक्त आकर माँग बैठे।

तीसरे रोज़ पण्डित अपनी दरी माँगने ज़रूर आए। तब उसने यही कहा था, "छै-सात दिन में पहुँचा दूँगी। देवा को सूत रंगने के लिए दे दिया था, पता नहीं किस रँगरेज के यहाँ डाल आया है। देवा कल-परसों बाहर से वापस आ जाएगा तो दो-चार दिन में बिन के मैं खुद दे आऊँगी, परेशान न हों।"

"हूँ...कल-परसों देवा वापस आ जाएगा! कहाँ की कह के गया है? वह साल-भर से पहले नहीं आता, गिरफ़्तारी हुई है कि मज़ाक है..."

"गिरफ़्तारी..." माँ ने चौंककर कहा था।

"आंदोलन किया है तो सज़ा भुगतनी ही पड़ेगी..."

सुनकर माँ ने खामोशी साध ली थी। बस इतना-भर कहा कि दरी पहुँच जाएगी, जैसे भी होगी।

गली में यह बात फैल गई थी कि देवा जेल चला गया है। यहाँ से कुछ लोगों के साथ वह करहल तहसील गया था, वहीं गिरफ़्तार हो गया है। सज़ा एक साल की हुई है, लेकिन

दो सौ रुपया जुर्माना भर दे तो आधी सज़ा कट सकती है। पर उसके साथियों में कोई जुर्माना भरने की बात को ठीक नहीं समझता। देवा ने जुर्म क्या किया है, इसके बारे में किसी को ठीक-ठीक नहीं पता। जब माँ की समझ में कुछ नहीं आया, तो वह हताश-सी हो गई थी। गली के लोग इसीलिए भी कोई बात नहीं सुझाते थे कि उन्हें कहीं रुपये का इंतज़ाम न करना पड़ जाए। तब वह और किससे कहती! अकेली बैठती तो देवा के पिताजी का ध्यान बार-बार आता। वे देवा के लिए कितने चिंतित थे। सोचा, अगर उन्हें पता चलेगा तो यही कहेंगे कि मुझे खबर तक नहीं दी। आखिर बेटा तो मेरा भी है, और कौन करेगा उसके लिए। जो हुआ सो हो चुका, पर क्या खून और प्यार के फर्ज़ छूट जाते हैं।

तब एक दिन उसने 'उन्हें' चिट्ठी लिखी थी– "देवा करहल तहसील में गिरफ़्तार हो गया है। कुछ कह के नहीं गया। थोड़े दिन पहले पण्डितजी से यह खबर मिली है। वह यह भी कहते हैं कि दो सौ रुपया जुर्माना दे दिया जाए तो देवा की आधी सज़ा कट जाएगी। इतवार की रात को गया था। यहाँ बिल्कुल अकेली हूँ, जी नहीं लगता, देवा की वजह से बड़ा सूना लगता है। कुछ काम भी नहीं कर पाती। आप जो पैरवी ठीक समझें, करके उस छुड़ा लाएँ। हो सके तो यहाँ होते हुए आप करहल निकल जाएँ।"

जो आदमी अपने काम से गया था और देवा की माँ का खत ले गया था वह वापस आया तो लिखावट के दो शब्द तक साथ न लाया। ज़बानी उसने यही बताया था कि स्टेशन-मास्टरजी का कहना है कि मुझसे पूछकर और मेरी मर्ज़ी से देवा चलता होता तो मैं अपना सिर भी रोपता; उसका क्या ठिकाना, आज छुड़ाया कल फिर चला जाएगा... नौकरी-पेशा आदमी हूँ, और ये सब काम करने के लिए वक्त चाहिए, वह कहाँ से लाऊँ... कल ही मुझे दूसरी जगह रिलीव करना है।

देवा की माँ ने सुना तो पहले विश्वास नहीं आया। सोचा, शायद बेमौके चिट्ठी हाथ में पड़ी हो, पता नहीं दिमाग किन परेशानियों में फँसा हो कि यह खबर पाकर तिलमिला गए हों। जब ठंडे दिल से सोचेंगे तो शायद डाक से चिट्ठी डाल दें। या शायद अपने घर की बात बाहरवाले के सामने न करना चाहते हों, तो भी चिट्ठी डाक से ही आएगी। लेकिन महीनों इंतज़ार के बाद भी डाक से कोई चिट्ठी नहीं आई। वह भीतर कोठरी में जाती, घड़ी हथेली पर रखती तो वहीं ज़ंजीर हथेली के उस पार झूल जाती, वह घड़ी को पल-दो पल देखती। घड़ी की सुइयाँ वक्त बदलती जातीं, पर ये सूनेपन की घड़ियाँ स्थिर-अडिग खड़ी थीं, अकेलेपन के पल अमिट हो गए थे, जिन्हें घड़ी की सुइयाँ नहीं हटा पाईं।

इधर पण्डितजी का दरी का तकाज़ा नाराज़ी का रूप धारण करता जा रहा था, उधर वह सारा कारबार रोके, हताश, उन परछाइयों का इंतज़ार कर रही थी जो चलती हैं, बनती

हैं, मिटती हैं, पर बोलती नहीं। आखिर एक दिन जब पण्डितजी खरी-खोटी सुना गए और सूत रंगने देने वाली बात को महज बेईमानी और झूठी बात करार देकर बड़बड़ाते चले गए तो वह आँखों में आँसू भरे चरखा कातती रही। टूटते सूत से सूत जोड़ने की कोशिश करती रही और सिसकती रही...सोचती रही और रोती रही, उसके सूत तो ऐसे बिखर गए थे, जो पकड़ाई में ही नहीं आते थे।

जब अँधेरा झुक आया और घर की बँधी-बँधी फिज़ा में ऊब भरने लगी तो वह एक गहरी साँस लेकर उठी थी, चरखे की चरमराहट रुकी तो और भी निस्तब्धता छा गई थी। वह कोठरी में पहुँची, तब न जाने कौन-सा घाव उघड़ गया कि आँखें अनायास भरभराकर वह उठीं।

और तब अंधेरे में बैठे-बैठे उसके सामने जैसे सत्य उजागर होता गया था...वह अब तक किन परछाइयों पर विश्वास करती आई...देवा के पिताजी पर...पर वह कितनी बड़ी प्रवंचना थी...कितना बड़ा धोखा वह देते आ रहे हैं। कितनी सफ़ाई से सारी ज़िम्मेदारी टाल गए थे और कितनी खूबसूरती से उसके नारीत्व और पत्नीत्व को बातों से तृप्त कर गए थे...इसीलिए कि वह कुछ और न सोच सके...वह सिर्फ़ यही तो चाहते थे कि वह इसी तरह लँगड़ाती, घिसटती और अधूरी रहकर भी पति के आकाशी आदर्श की गरिमा में अपने को धन्य मानती रहे...वह नीचे उतरकर धरती का स्पर्श न करने पाए...कहते थे– देवा पर तुम्हारा ही असर पड़ेगा...और इस बात में वे उसकी लज्जा को कितनी बड़ी चुनौती दे गए थे...पर...तब उसकी आँख पर कौन-सा परदा पड़ा था!

और तब वह उस अँधेरी कोठरी से निकली थी। सिंदूर की डिबिया उसके हाथों में थी और तुलसी के बिरवे पर चाँदनी मुसकरा रही थी। चारों तरफ़ दूध-सा फैला था और एक अजीब-सी शीतलता थी। वह सिंदूर की डिबिया हाथ में लिए तुलसी को निहारती रही थी। भीतर बवंडर-सा था। काँपती उंगलियों से उसने डिबिया खोली थी और सारा सिंदूर तुलसी की नीली-नीली पत्तियों पर बिखेरकर अपना सुहाग उसे सौंप, सजल नयनों से उस बिरवे को ताकती रही थी। तुलसी की पँखुरियाँ सिंदूर मिली दूधिया चमक से जैसे और भी नीली पड़ गई थीं। और वह तुलसी के बिखेरुए पर माथा टेके, उस निपट अकेली रात में, अपने एकाकीपन को सोच-सोचकर खिसिया-खिसियाकर रोई थी, शंका से भर-भर उठी थी, डर से घबराई थी, पर कहीं कुछ था जो उसे रुलाता था और ढाढ़स बँधाता था, उसकी आँखों में पानी का सैलाब लाता था और सोख लेता था—

उस दिन से उसने माँग नहीं भरी...और कोई चारा न देखकर घड़ी-की ज़ंजीर बेचकर रुई खरीद लाई थी। पण्डित की दरी भी बुनकर दे आई थी।

तब से वह लगातार खरीदी हुई रुई की दरियाँ बुनती रहती, सूत कातती रहती और एक-एक बुनकर सहेज-सहेजकर रखती जाती। किसी का काम मिल जाता तो कर देती, नहीं तो अपने काम में लगी रहती। देवा को बिछुड़े तो इतने दिन हो गए थे कि अब लगता था— वह दूर ही चला गया। जब उसकी बहुत याद आती तो संदूक से उसका कुरता निकालती, तह खोलती, उसे देखती और फिर सँभालकर रख देती।

और जब आज साल-भर बाद देवा सामने आकर खड़ा हो गया तो माँ का वही चरखा चल रहा था, जिसका हत्था शीशे की तरह चमकने लगा था। वही स्थिरता माँ के चेहरे पर छायी थी जो सहज भक्ति से मिल पाती है, और सूत कातते क्षणों की खामोशी— जैसे आराधना का मौन! देवा ललचाया-सा खड़ा देखता रह गया। माँ ने उसका संकोच परखा था। उसे लगा कि अभी वह कुछ वैसी बातें कहेगा जिसमें वही पुराना भ्रम होगा, उसे नौकरी मिल जाने वाली बात जैसी कोई हल्की बचत होगी। पर देवा ने वैसी कोई बात नहीं कही तो चरखे की माल पर हाथ फेरती हुई वह उठी और तब उसने नज़दीक से देवा को देखा। वह जैसे पक गया था, उसके मुख पर तपस्या की आभा थी, कच्चा बचपना कहीं दुबक गया था। सारे प्रश्न और उत्तर अपने-आप सहज हो गए। सब सरल था। उसकी आँखों में ममता भर गई, बोली, "देबू, आ गया तू।"

"अम्मा..." और रुककर वह बोला था, "बड़ी भूख लगी है।"

"भूख..." उसने कहा।

"साल-भर से भूखा हूँ...अम्मा पूरे एक साल से..."

तब सारा समय सिमट आया, सब स्वाभाविक हो गया। माँ ने खाना परोसा, देवा ने पानी रखा और माँ-बेटे बेवक्त खाने बैठ गए। खाते-खाते देवा ने कहा, "बाबूजी अस्पताल में हैं।"

"क्या हुआ?" माँ के चेहरे पर सब प्रकृत था।

"मोटर में जान-पहचान का खलासी मिला था। मुझे पहचाना तो उसने बताया था कि बाबूजी को प्लूरिसी हो गई है। एक बार हालत इतनी खराब हो गई कि चौबीस घंटे बेहोश रहे, फिर कुछ हालत ठीक हुई, पर तीन-चार रोज़ बाद फिर बिगड़ गई...छोटे अस्पताल से बड़े में चले गए हैं..."

"कब से खराब है?"

"एक महीने से, कल जाके देख आऊँ?" देवा बोला।

माँ चुप रही। तीन-चार कौर उसने और खाए, गट-गट पानी पिया और उठ गई। शाम गहरी-गहरी उदास थी। देवा का मन हुआ कि इतने दिनों बाद जाकर लोगों से मिल ले। लौटकर आया तो माँ चरखे के तकुए की नोक पटिया पर घिस रही थी। आज माँ की स्वाभाविक उदासीनता में कुछ कलक थी। उदासीनता की दृढ़ता की जगह खोया-खोया मोह था।

रात को माँ दिये के प्रकाश में बैठी चरखी की रुई साफ़ करती रही। यह चरखा ही शायद उसका सबसे बड़ा सहारा था। सूत कातते हुए टूटे तार जोड़ते-जोड़ते अथाह धैर्य और अटूट दृढ़ता उसकी प्रकृति में आ गई थी। प्रत्येक बार टूटनेवाले तार ने उसकी खीझ, झुँझलाहट और असंतोष को जीत लिया था। इसी में उसका निस्तार था, यह चरखा ही उसका गूँगा गुरु था।

रुई साफ़ करने के बाद शायद यह लेटती, पर चरखे को खाट के सिरहाने रखकर वह अंधी अलमारी के पास खड़ी रही। अरसे से रखी हुई चीज़ों को उठा-उठाकर निहारती रही। कील में लटकते कृष्णजी के कलैंडर को देखती रही और फिर मोम लेकर चरखे का माल सूतने लगी।

एक झपकी के बाद जब देवा की आँख खुली तो देखा, माँ सूत की पूनियों के ढेर के सामने सिर झुकाए बैठी है...मोह का आवरण उसके चारों ओर अदृश्य-सा फैला है और उस अँधियारे में उसकी काया असमंजस में पड़ी है। वह कुछ चाह रही थी— पाना या खोना!...पर जैसे न वह पा सकती थी और न खो सकती थी...वहाँ से उठकर उसने दिये को बुझाया तो देवा ने आँखें मूँद लीं, और इस इंतज़ार में कि अब माँ लेटेगी, वह खुद सो गया।

सुबह की नरम सरदी से वह कुछ जल्दी ही जागा। दीवार के मोखे से प्रकाश की रेखा आ रही थी और कोठरी का अंधियारा भूरा-भूरा हो गया था। उसे कुछ शुभ-सा लगा। माँ की खाट खाली थी। कुछ खटका मन में हुआ। उठकर कोठरी की चौखट तक आया।

बाहर आँगन में जैसे पवित्रता छाई थी...हल्की सरदी और मन के उजियारे की तरह पावन प्रकाश! और उस प्रातः के सुरमई आकाश से झरती हुई वह आभामय रोशनी, जिसमें आँगन का तुलसी का बिरवा किसी विश्वास के अंकुर-सा स्थिर खड़ा था! उसके घिरोए पर माटी का दीपक जल रहा था, जिसकी अकंपित लौ में तुलसी की छाया तले सिर टेके, माँ की सिंदूर-भरी माँग चमक रही थी।

अकस्मात इतने विशाल शुभ को ग्रहण कर सकने में अपने को असमर्थ पाकर, वह आँखें मूँदकर उस पूर्णता को पा सकने के लिए यंत्रचालित-सा खाट पर मुँह गड़ाकर लेटा रहा। थोड़ी देर बाद आहट हुई तो एकाएक वह आँखें न खोल पाया...कहीं अर्थ खो न जाए, पूर्णता लुप्त न हो जाए।

"देबू...देबू..." माँ ने पुकारा था, "सबेरा हो गया देबू, उठो..."

उठकर वह बाहर आँगन में आ गया और माँ कोठरी में घुसी रही। जब वह बाहर आई तो देवा बोला, "अम्मा, हम लोग चलकर बाबूजी को आज ही देख आएँ।"

माँ ने ऐसे देखा कि क्या वह सचमुच ही यह बात कह रहा था और क्या उसके लिए भी कह रहा था? माँ को खामोश देखकर वह बोला, "तुम तैयारी कर लो, अभी सवेरे दस बजे चलकर रात की गाड़ी से वापस आ जाएँगे।"

"मैं नहीं जाऊँगी..." कहते-कहते माँ कमरे की तरफ़ मुड़ गई।

"तुम नहीं जाओगी?" देवा ने जैसे बात समझने के लिए दोहराई।

"नहीं!" माँ के स्वर में दृढ़ता थी।

"तो मैं चला जाऊँ...?" देवा सहसा कह गया।

"नहीं।" माँ ने उसी दृढ़ता से कहा और अपने काम में लग गई।

## संवाद

1. आत्मनिर्भरता एक स्त्री की आत्मिक निर्भरता का पोषण करती है? इस कथन पर विचार कीजिए।
2. देवा की जगह आप होते तो अपनी माँ के लिए क्या करते?

# सुई और तागे के बीच में

*— केदारनाथ सिंह*

*माँ पर लिखी गई हिंदी कविताओं में केदारनाथ सिंह की 'सुई और तागे के बीच में' अप्रतिम दर्जा रखती है। कविता में वाचक अपनी वृद्धा माँ का चित्र उपस्थित कर रहा है जो अपने बेटे की गृहस्थी को संभालने में ही अपने को खो चुकी है। वाचक जानता है कि वह संसार में प्रवेश करते ही माँ को भूल जाता है किंतु माँ का संसार केवल उसका पुत्र ही है। ऊन के बारे में सख्त विचार कहकर वाचक माँ की उस प्रवृत्ति पर संकेत करता है जो अपने पर कोई पैसा खर्च नहीं करने देती, वहीं मृत्यु के बारे में कोमल विचार का आशय है कि माँ अपने जीवन की सार्थकता बेटे का घर बसा देखकर मुक्ति पाने में है।*

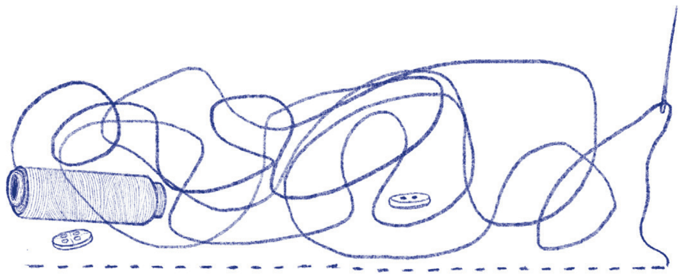

माँ मेरे अकेलेपन के बारे में सोच रही है
पानी गिर नहीं रहा
पर गिर सकता है किसी भी समय
मुझे बाहर जाना है
और माँ चुप है कि मुझे बाहर जाना है

यह तय है
मैं जाऊँगा तो माँ को भूल जाऊँगा
जैसे मैं भूल जाऊँगा उसकी कटोरी
उसका गिलास
वह सफ़ेद साड़ी जिसमें काली किनारी है

मैं एकदम भूल जाऊँगा
जिसे इस समूची दुनिया में माँ
और सिर्फ़ मेरी माँ पहनती है

उसके बाद सर्दियाँ आ जाएँगी
और मैंने देखा है कि सर्दियाँ जब भी आती हैं
तो माँ थोड़ा और झुक जाती है
अपनी परछाईं की तरफ़

ऊन के बारे में उसके विचार
बहुत सख़्त हैं
मृत्यु के बारे में बेहद कोमल
पक्षियों के बारे में
वह कभी कुछ नहीं कहती
हालाँकि नींद में
वह खुद एक पक्षी की तरह लगती है

जब वह बहुत ज़्यादा थक जाती है
तो उठा लेती है सुई और तागा
मैंने देखा है कि जब सब सो जाते हैं
तो सुई चलाने वाले उसके हाथ
देर रात तक
समय को धीरे-धीरे सिलते हैं
जैसे वह मेरा फटा हुआ कुर्ता हो

पिछले साठ बरसों से
एक सुई और तागे के बीच
दबी हुई है माँ
हालाँकि वह खुद एक करघा है
जिस पर साठ बरस बुने गए हैं
धीरे-धीरे तह पर तह
खूब मोटे और गझिन और खुरदुरे
साठ बरस

## संवाद

1. क्या आपने किसी वृद्ध स्त्री या पुरुष को सिलाई-बुनाई करते देखा है? उन्हें यह कार्य करते हुए देखना कैसा लगता है?
2. मृत्यु के बारे में माँ के विचार कोमल क्यों हैं?

# माँ पर नहीं लिख सकता कविता

*— चंद्रकांत देवताले*

*चंद्रकांत देवताले अपनी कविता 'माँ पर नहीं लिख सकता कविता' में माँ पर कविता न लिख पाने की अपनी अक्षमता बताते हैं। इस अक्षमता का मूल कारण यह है कि कवि चाहे कितना भी योग्य, समर्थ और कुशल हो जाए वह माँ के त्याग, समर्पण और ममता का चित्रण करने में अपनी कला को कमज़ोर पाता है। वास्तव में माँ अपनी संतानों के लिए जिस तरह अपने को न्योछावर करती है भला उसका कोई शब्दों में महत्व कैसे बता सकता है।*

माँ के लिए संभव नहीं होगी मुझसे कविता
अमर चींटियों का एक दस्ता
मेरे मस्तिष्क में रेंगता रहता है
माँ वहाँ हर रोज़ चुटकी-दो चुटकी आटा डाल देती है

मैं जब भी सोचना शुरू करता हूँ
यह किस तरह होता होगा

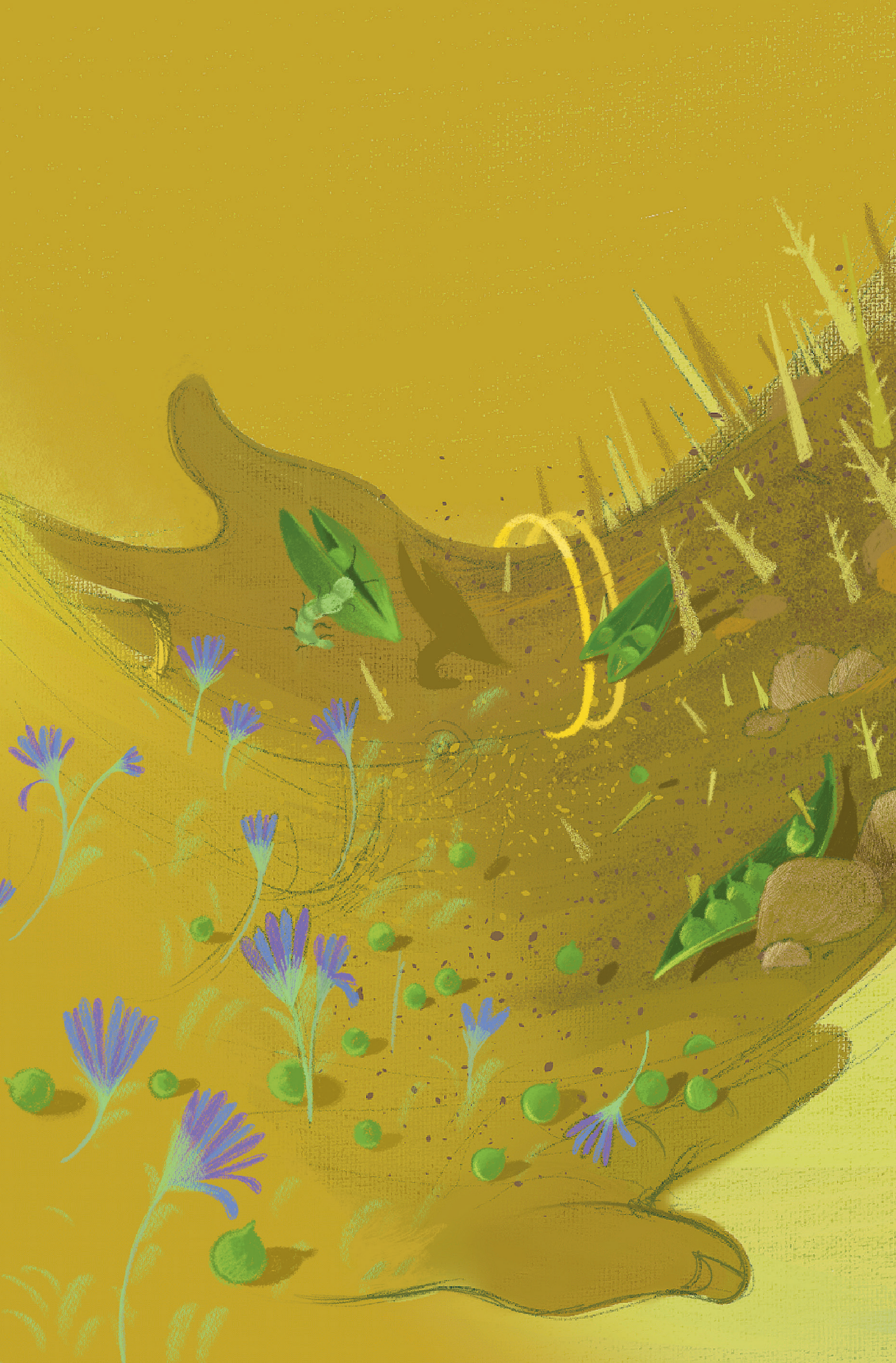

घट्टी पीसने की आवाज़
मुझे घेरने लगती है
और मैं बैठे-बैठे दूसरी दुनिया में ऊँघने लगता हूँ

जब कोई भी माँ छिलके उतारकर
चने, मूँगफली या मटर के दाने
नन्हीं हथेलियों पर रख देती है
तब मेरे हाथ अपनी जगह पर
थरथराने लगते हैं

माँ ने हर चीज़ के छिलके उतारे मेरे लिए
देह, आत्मा, आग और पानी तक के छिलके उतारे
और मुझे कभी भूखा नहीं सोने दिया

मैंने धरती पर कविता लिखी है
चंद्रमा को गिटार में बदला है
समुद्र को शेर की तरह आकाश के पिंजरे में खड़ा कर दिया
सूरज पर कभी भी कविता लिख दूँगा

माँ पर नहीं लिख सकता कविता

## संवाद

1. आपको अपनी माँ द्वारा किए जाने वाले रोज़मर्रा के कामों में कौन-कौन से काम याद आते हैं?
2. क्या आप अपनी माँ के कार्यों में हाथ बँटाने की कोशिश करते हैं? हाँ, तो किस तरह?

# बेसन की सोंधी रोटी पर

*— निदा फ़ाज़ली*

*निदा फ़ाज़ली की कविता 'बेसन की सोंधी रोटी पर' अपनी तरल रागात्मकता के कारण पाठकों द्वारा खूब पसंद की जाती है। इस कविता में सामान्य भारतीय माँ का ऐसा चित्र आया है जो हम सबके अनुभव संसार में अमिट है। कवि जब कहता है कि रस्सी पर नटनी की तरह माँ दिनभर चलती है तो इसका आशय है कि उसका पूरा जीवन संतुलन द्वारा गृहस्थी को संभाले रहने में ही समाप्त हो जाता है। माँ भी कभी चंचल लड़की जैसी थी, उसके भी सपने थे लेकिन अब वह परिवार के लिए जैसे सब भूल चुकी है।*

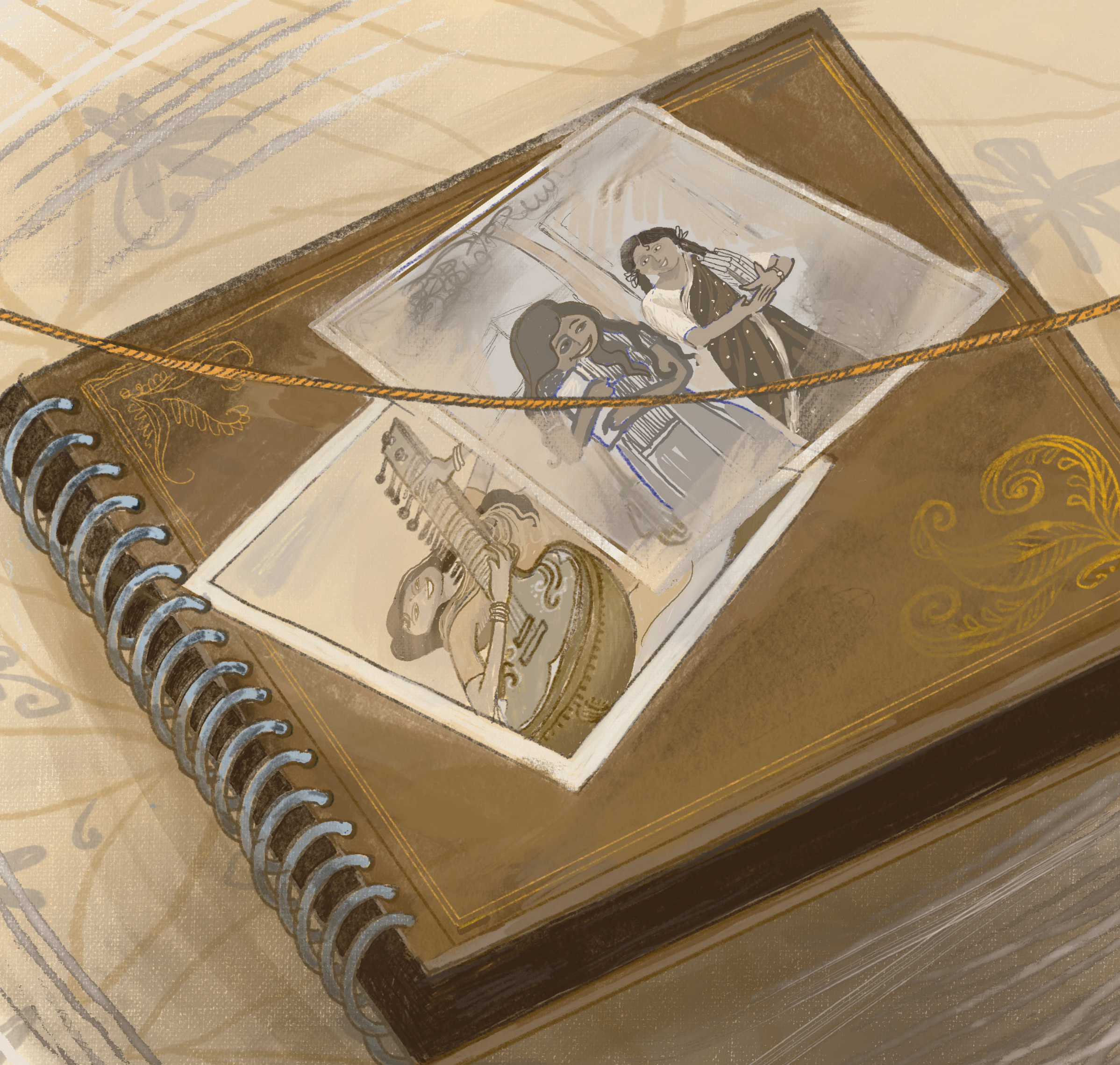

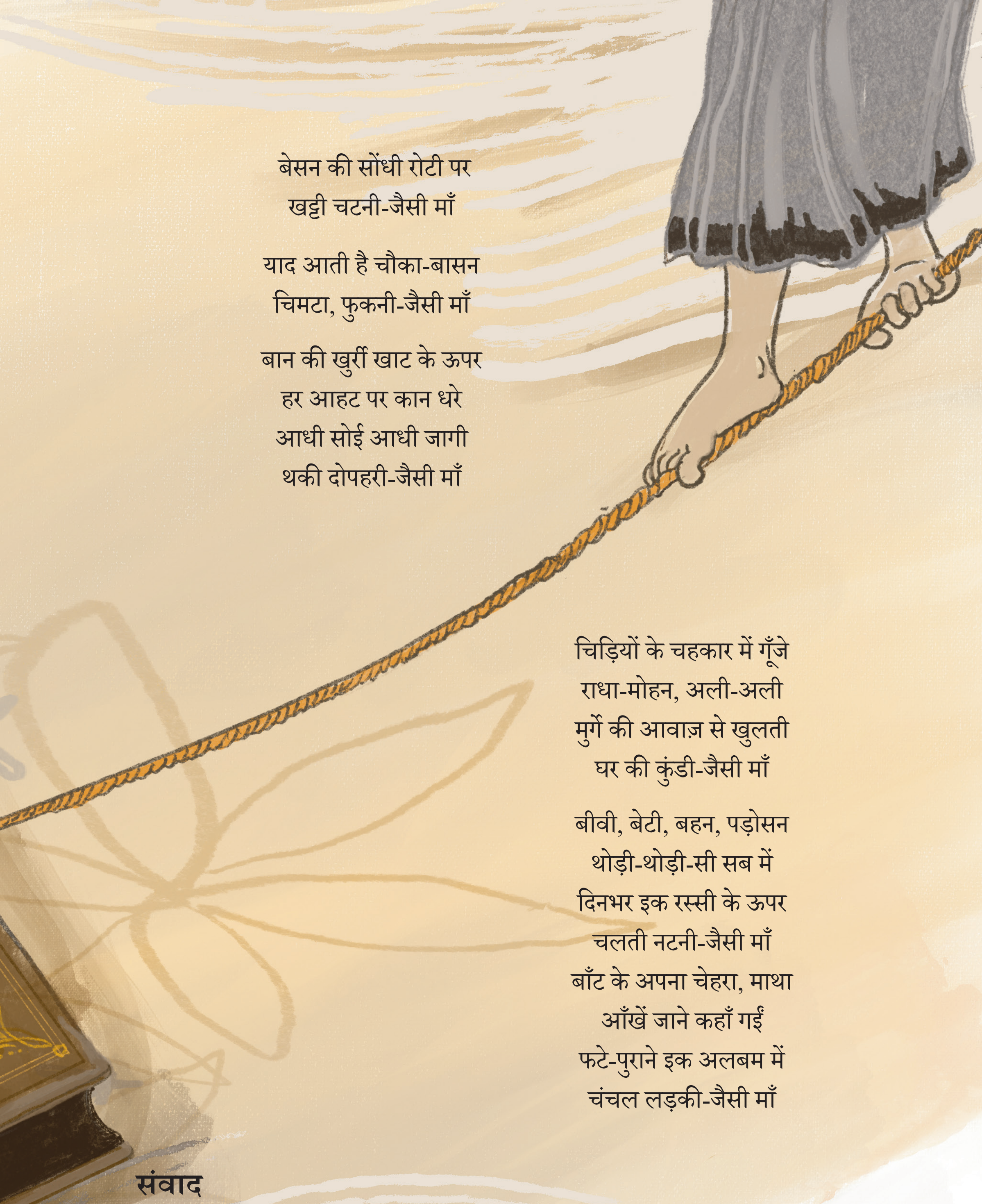

बेसन की सोंधी रोटी पर
खट्टी चटनी-जैसी माँ

याद आती है चौका-बासन
चिमटा, फुकनी-जैसी माँ

बान की खुर्री खाट के ऊपर
हर आहट पर कान धरे
आधी सोई आधी जागी
थकी दोपहरी-जैसी माँ

चिड़ियों के चहकार में गूँजे
राधा-मोहन, अली-अली
मुर्गे की आवाज़ से खुलती
घर की कुंडी-जैसी माँ

बीवी, बेटी, बहन, पड़ोसन
थोड़ी-थोड़ी-सी सब में
दिनभर इक रस्सी के ऊपर
चलती नटनी-जैसी माँ
बाँट के अपना चेहरा, माथा
आँखें जाने कहाँ गईं
फटे-पुराने इक अलबम में
चंचल लड़की-जैसी माँ

## संवाद

1. अपनी माँ से पूछकर देखिए कि वे पढ़ाई के दिनों में क्या बनना चाहती थीं?
2. माँ का फोटो कवि को फटे पुराने अलबम में ही क्यों दिखाई देता है?

# माँ

— ***ममता कालिया***

*ममता कालिया हिंदी की प्रसिद्ध लेखिका हैं। उनकी कहानी 'माँ' में संबंधों का त्रिकोण आया है जिसमें एक सास, बहू और उसकी छोटी बिटिया है। कहानी छोटी बिटिया की निगाह से रची गई है जिसमें मामंती मनोभूमि वाली सास का बहु के प्रति कठोर रवैया और बहू-बेटे के मध्य ताक-झाँक करने वाली प्रवृत्ति द्रष्टव्य है। एक छोटी-सी घटना में बिटिया पर आई विपत्ति पर बहू सारी लाज-हया छोड़कर अपनी संतान के लिए व्याकुल हो जाती है। फिर भी बहू की अपनी संतान के लिए व्याकुलता 'माँ' होने की सार्थक आश्वस्ति है।*

दादी का कहना था कि माँ बहुत गलतियाँ करती थी, हरदम, हर वक्त। कभी तरकारी पतली बना देती, कभी दाल गाढ़ी कर देती। कभी उनसे मसाला मोटा पिस जाता, कभी कमरे में जाले लगे रह जाते। और तो और, कभी यकायक बारिश होती और वे आँगन में सुखाए पकड़े उठाने में देर कर देतीं।

और तब शुरू हो जाता दादी-उवाच!

दादी हाथ नचा-नचाकर उन्हें उनकी लापरवाहियाँ गिनातीं और कहतीं, "देखो, कैसी घुन्नी बनी बैठी है, न काम से मतलब न काज से। एक हम थे। हमारी सास की नज़र ज़रा उठी नहीं कि उनके चरणों पर लोटने लगते थे।"

रात माँ की आँख झपते ही दादी उन्हें झँझोड़कर उठा देतीं, "रसोई में बिल्ली खड़-खड़ कर रही है और यह यहाँ पसरी पड़ी है। अरे, यों तो न उजाड़ो अपने भरतार का घर!"

बाबा दुकान से देर में लौटते। उनकी खातिर चौका पड़ा रहता।

माँ सुनती रहतीं, सहती रहतीं। नि:शब्द वे काम करती जातीं। उसी काम को बार-बार, दादी की तसल्ली तक। मुझे घंटों हो जाते माँ की आवाज़ सुने। कई बार लगता, वे रोती भी नि:शब्द हैं। उनके गाल अक्सर गीले हो जाते— पसीने से या आँसुओं से, यह समझने के लिए मैं बहुत छोटी थी। बेवकूफ़ थी।

एक बार माँ नल पर कपड़े धो रही थीं। बाल्टी भर कपड़े रहे होंगे। मैं लेमनचूस के लिए माँ से पैसे माँग रही थी। माँ बार-बार मेरा हाथ छुटाकर झुँझला पड़तीं, "हट जा, काम करने दे मुझे।"

मैं उनके कंधे पर झूल गई, "माँ, लेमनचूस खाएँगे, पैसा दो।"

माँ ने खीझकर निचुड़ी हुई गीली धोती दन्न-से मेरी पीठ पर दे मारी, "ले लेमनचूस, ले। पैदा होते ही मर क्यों न गई, चैन तो आता। बड़ा तेरा बाप कमाई करके धर गया है। जा माँग उसी से।"

मैं बुक्का फाड़कर रोने लगी, "बाबूजी तो आगरे पढ़ते हैं, मैं कैसे जाऊँ?"

दादी पूजा की कोठरी से दौड़ी आईं, "इस पर जब देखो चंडी चढ़ी रहती है।"

फिर उन्होंने मुझे घपची में भरकर पूछा, "बता, कितने लेमनचूस खाएगी?"

मैं मार-वार सब भूल गई। दादी की गोद में चढ़कर बोली, "दस।"

दादी ने दस लेमनचूस खरीद दिए। मैं सारा दिन लेमनचूस खाती रही, मैंने खाना नहीं खाया। मीठी गोली के आगे फ़ीकी रोटी कौन खाए?

माँ ने एक बार भी मेरी ओर नहीं देखा।

रात माँ ने सबको खिलाकर चौका उठा दिया।

दादी ने कहा, "ये चलित्तर किसी और को दिखाइयो। ज़्यादा रिसानी है तो रोटी न खाएगी, और का?"

दादी जब माँ से क्रुद्ध होतीं, यही कहतीं, "बहुत गुस्सा आय रहा हो तो दो रोटी कम खाय लीजौ, गुस्सा आपै उतर जाएगौ।"

अब सोचती हूँ तो मन में अजीब तड़फड़ मचती है। दादी के राज में माँ का सारा संघर्ष रोटी से शुरू होता, रोटी पर आकर ही टूटता। किसी दिन दादी खुश हो गईं तो माँ को एक रोटी ज़्यादा मिल गई या खरबूजे की एक पतली-सी फाँक या बालों में लगाने के लिए तेल। अन्यथा सुबह-शाम माँ की खुराक थी– मशक्कत और अपमान।

माँ में यह सब सहने की एक बेहया बहादुरी थी। शायद यह बहादुरी उन्होंने अपने बचपन से पाई थी। एक बार माँ ने मौसी से कहा था, "अरे, बचपन में हम हैजा, काली खाँसी, गर्दनतोड़ बुखार से लड़ लिए और बच गए तो जे डोकरी का चीज़ है? लड़ी तो माँ और भी कई चीज़ों से। उनकी वह लड़ाई बड़ी अनूठी थी। उसमें उनकी सक्रियता की परख करनी मुश्किल थी। पर लड़ाई तो वह थी ही।"

माँ का आधा जीवन प्रतीक्षा में बीत रहा था, आधा लड़ाई में। उन्हें बाबू की पढ़ाई पूरी हो जाने का इंतज़ार था। वे जानती थीं, बाबू बड़ी मेहनत से पढ़ते और अव्वल आते हैं। वे सोचतीं— बाबू जब कमाने लगेंगे, उनके सारे दुख दूर हो जाएँगे।

एक बार बाबू आए हुए थे। बाबू मुश्किल से एक दिन को आते। शनिवार की रात को आए, सोमवार को भिनसारे चले गए। उस दिन दादी ने उनके खाने के लिए दुअन्नी का दही मँगाया। कुल्हड़ भर दही था। दादी ने चौके में कुल्हड़ रख दिया कि बड़का नहा-धोकर आएँगे तो गरम रोटी खाएँगे। माँ आँगन में नल के पास बर्तन माँज रही थी। मैं कुल्हड़ देखते ही चौके में घुसी। दही के ऊपर मलाई की परत थी। मलाई चाटी और कुल्हड़ वापस जगह पर धर दिया। थोड़ी देर बाद बाबू जब खाना खाने बैठे, दादी अपने हाथ से परोसने लगीं। दादी ने कुल्हड़ खोलते ही पूछा, "बहू, दही के ऊपर की मलाई कहाँ गई?"

"मुझे क्या पता?"

"क्यों तुझे क्यों नांय पतौ? और कौन को पतौ है?"

मैं आँगन में खेल रही थी। दादी के हाथ में कुल्हड़ देख मैं पत्ता तोड़ भागी बाहर। माँ रोटी फुलाते हुए बड़बड़ाई, "तुम जानो तुम्हारी संतान जाने। हम दही न कभी चाखे न कभी खाए।"

दादी भड़क गईं, "देखो बड़के, मुझे झूठा ठहरा रही है। ये जनम की चटोरी है। जो अपनी माँ का जायौ है तो लगा एक ताल याके।"

बाबू ने माँ की आज्ञा का पालन किया और खाना नहीं खाया। सूखे मुँह निकल गए।

कभी-कभी माँ रात में कहानी सुनातीं। जब कौआ, तोता, बिल्ली और चोर की सब कहानियाँ एक-एक कर खत्म हो जातीं तो माँ कहती, "अब तक तो सुनी तूने जगबीती, ले अब सुन एक आपबीती।"

इस कहानी की हीरो मैं थी। मुझे यह कहानी पसंद थी। माँ कहतीं, "जब तू इत्ती-सी थी, बस सैंतालिस दिन की, तब की बात है। सुबह-सुबह तुझे तेल लगाकर, दूध पिलाकर आँगन में खटोले पर लिटाया कि थोड़ी देर में नहला दूँगी। फिर मैं घर के कामों लग गई— बुहारी देना, बर्तन माँजना, पानी भरना।"

“आधे काम से फारिग होकर मैंने सोचा– चलो बिटिया को नहवाय दें, धूप चढ़ रही है कि ये लो, खटोले पे बिटिया तो हइए नहीं। मुझे काटो तो खून नहीं। कहाँ जाऊँ, क्या करूँ!”

“तेरी दादी गई हुई थीं जमुना नहाने। लौटीं तो देखा मैं पगलाई हुई कभी तख्त के नीचे, कभी खटोले के ऊपर, कभी अलमारी के अंदर, कभी बक्से के पीछे तुझे ढूँढ़ रही हूँ।”

“मैंने उन्हें देखकर बिसूरकर कहा, “मुन्नी को जाने कौन ले गयौ? अभाल तेल लगाकर, दूध पिलाकर खटोले पे लिटायौ, अभाल लोप होय गई। सैंतालिस दिन की बिटिया न करवट लेय सकै, न ठीक से आँखौ खोलै, गई तो कहाँ गई।”

“तेरी दादी ने इधर देखा, उधर देखा, फिर बोलीं, ‘जी को सँभार।’ बंसीवारे को यही मंजूर था। जिनने दी, बिनने ले ली।”

“पर मैं तो पगलाई। घर-भर में डोल रही थी, ‘हाय! उसके तन पे एकौ लत्ता न रहयौ।’ ”

“तेरी दादी ने तभी देखा और चिहुँक पड़ी, हाय राम! गजब हो गयौ।”

“मैंने भी तभी देखा। एक बंदर तुझे उठा ले गया था। वह धीरे-धीरे सामने के तिमंज़िले मकान की पतली मुँडेर पर से जा रहा था। तुझे उसने छाती से चिपका रखा था।”

“मेरी रुलाई फूट पड़ी, ‘हे हनुमानजी, यह कौन परीक्षा लीनी? जो ज़रा छूटी तो खम्म से गिरैगी तिखने से। हाय! कोई बचाओ मेरी मुन्नीए!’ ”

“दादी ने घुड़का, साक्षात भगवान आकर ले गया। याही जनम में तुझे मोच्छ मिलौ, और का चाहौ?”

पर मेरा जी पत्ते की तरह काँपा जाए, “नाहीं, मोच्छ का मैं का करौंगी, मोय मोरी मुन्नी दिवा दो। का पता बंदर कब बुड़का मार दे, पटक दे या ओझल हो जायँ। हाय! मुन्नी अब गिरी, अब गिरी।”

“अचानक बंदर कूदकर दो मंज़िलों के बीच की पतली-सी पटिया पर चलने लगा। फिर वह कोने तक जाकर नुकीली जगह के मोड़ पर बैठ गया। तुझे उसने कलेजे से हटाकर वहीं लिटा दिया।”

“घबराई हुई मैं छत चढ़ गई, ‘मेरी मुन्नी को बंदर ले गयौ, अरे कोई बचाओ, अरे कोई सुनौ।’ सास पीछे-पीछे हा-हा करती भागीं, ‘बहू तेरा दिमाग खराब है बिना घूँघट काढ़े तू छत पे नाच रही है। नीचे उतर।’ ”

“मिनटों में आस-पास की कई औरतें इकट्ठी हो गईं। लाल मुँहवाले बंदर के लिए तरह-तरह के लालच सोचे गए। एक औरत बोली, कलाकंद मँगाय के खटोलिया पे धर दो। हनुमानजी मुन्नी दे जाएँगे, दोना ले जाएँगे।”

“तेरी दादी बोलीं, जो मुन्नीए पटके कर भाजै तो?”

“हाँ, यह भी होय सकता है!”

“का पता कौन दसा करें!”

“एक औरत ने कहा, ‘ऐसा करो, अपनी मटरमाला लाय के हनुमानजी को दिखाओ। बनदरन को माला पहिरबे को बहुत सौख होता है। का पता, मुन्नी को छाती से चिपकाय के लेत आयँ, मटरमाला ले जायँ?’ ”

“मैं अंदर कोठरी में गई, बुकचे में से मटरमाला निकालने।”

“तब तक छतों-छतों, मर्दों तक शोर पहुँच गया, लाल गिर्राजमाल बूरेवाले की पोती को बंदर ले भगा और तीन तिखने की मुँडेरिया पर बैठा है।”

“लोग इकट्ठे होने लगे।”

“तो मुन्नी, करीब आठ छत पार दो छोरे सुबह से पतंग उड़ाने में लगे हुए थे। सयाने थे। लेकिन छोरन को कौन काम? सो, पतंगबाजी चल रही थी। शोर उन तक पहुँचा तो वे डोर-लटाई फेंक खड़े हुए। उनमें से एक लपककर अपने घर से केला ले आया। फिर दोनों छतों-छतों कूदते-फलाँगते यहाँ पहुँच गए। एक ने बंदर को केला दिखाया। बंदर दाँत निपोरता हुआ आया। वह छोरा केला दिखाते हुए उसे वा कोने तक ले गया, तब दिया। बंदर केला छीलकर खाने लगा। तुझे यहीं छोड़ गया था। दूसरा छोरा बाँस के सहारे छत पर से उतरा। मुँडेर के नीचे इत्ती भी जगह नहीं थी कि पैर टिका ले या हाथ अटकाए। बस, जान पर खेल गया छोरा। उसने मुँडेर की पतली जगह के दो कोनों पर बाँस टिकाया। टिकने के बाद भी बाँस थर-थर काँपे था। बिल्कुल नट की तरह वह छोरा बाँस पर पैर धरकर गया और एक हाथ से तुझे उठा लाया। दूसरे हाथ की बाड़ साधे-साधे वह ऊपर चढ़ने का जतन करने लगा। भीड़ के लोगों ने छत पर आकर उसके हाथ से तुझे लपक लिया, फिर बगलई देकर छोरे को ऊपर उठाया। उसका संगी तब तक बंदर को खदेड़ चुका था। लोगों ने छोरों की खूब ही वाहवाही की।”

“आँगन में मेरे जी को चैन नहीं था। मैं सारी भीड़ को चीरती हुई आई और तुझे हृदय से लगा लिया। एक नज़र उन छोरों को ज़रूर देखना चाहती थी, जो तेरे रक्षक बनकर आए थे। पर भीड़ बहुत थी। शायद छोरे हाथ झाड़ते हुए उसी दम वहाँ से चले गए।”

“मैं तुझे छाती से चिपकाए-चिपकाए आँगन में उतर आई। छाती में दूध घुमड़ रहा था। औरतों की जमघट के बीच तेरी दादी बाल बिखेर, विकराल मुद्रा में बैठी थीं, मुझे देखकर

बोलीं, 'बहुत हो चुकी नौटंकी! अब चुप्पे से बैठ अंदर। आने दे बड़के को आगरे से, बासै सब बताऊँगी। वो दो मुस्टंडे यों ही नहीं अपनी जान पर खेल गए। तेरे का लगते थे, ममेरे भाई या यार! ज़रूर कोई पुरानी आसनाई रही होगी, नहीं तो कौन किसी की खातिर जान पे खेलतौ है? वह तो एकदम्मे लटक गए। अरे, अपनौ आदमी जोखम नाँय उठावै तो पराए की तो बात का? बता, कौन थे वे छोरे?' "

"मुझे उनका न नाम पता था न गाम। मैं का बताती?"

"जे चुप-छिनाल लुगाई है। मेरे गऊ जैसे बेटे को तो भरे बाज़ार बेच आए। बता का नाम था उन छोरों का?"

"मोय नाँय मालूम।"

"जिस पट्टे पर तुम्हारी दादी बैठती थीं, उसे ही निकालकर उन्होंने मुझ पर फेंका, 'बता सच-सच, नहीं तो तुझे ज़िंदा न छोड़ूँगी।' "

"यह मेरे माथे पे निशान तभी का है मुन्नी। खूब खून निकला। पर मैं का बताती? तू बच गई, किसने बचाई। मुझे का मालूम।"

मैंने माँ से चिपटते हुए पूछा, "माँ, आसनाई का चीज़ होती है?"

माँ ने ठंडी साँस भरी, "का मालूम।"

मैं समझ गई, ज़रूर यह कोई खराब ही चीज़ है, नहीं तो माँ क्यों पिटतीं!

## संवाद

1. एक्रोबेटिक या नट कला की परंपरा कई संस्कृतियों में पाई जाती है। भारत में इस कला के पारंपरिक इतिहास का पता लगाइए।
2. लेखिका ने अपनी माँ की सहनशीलता को बेहया बहादुरी क्यों कहा है? विचार कीजिए।

# माँ की याद

— राजेश जोशी

*'माँ की याद' एक ऐसी स्त्री की कविता है जो स्वयं पहली बार माँ बनने वाली है और उसकी अपनी माँ का निधन उसके विवाह से पहले हो गया है। उसे कसक है कि उसकी बहनों के बच्चों को नानी का प्यार मिला है लेकिन उसके बच्चे को यह सुख नहीं मिलेगा। अपनी गर्भावस्था के दिनों में उसे माँ की याद रह-रहकर आती है और वह विह्वल हो जाती है। जीवन में विडम्बनाओं के अनेक प्रसंग होते हैं यहाँ स्त्री की विडम्बना का कवि ने अत्यंत करुण चित्र उकेरा है।*

अचानक आती है
माँ की याद
और उदास हो जाती है वह
कि एक उसी का घर
नहीं देखा माँ ने
कि माँ क्यों चली गई
उसका घर

बनने से पहले ही
सिसकने लगती है वह
तकिये में सिर गड़ाए
कि माँ नहीं खिला पाएगी
उसी के पहले बच्चे को
जबकि सारी बहनों के बच्चों को
गोदी में ले लेकर
कितना नहीं खिलाया माँ ने
उसे रह-रह कर याद आती है
माँ
इन दिनों
इन दिनों
जब वह खुद
माँ बनने वाली है।

## संवाद

1. आपने अपने घर या आस-पास ऐसी किसी महिला को देखा है जो पहली बार माँ बनी है? आपको उनसे बात करने का अवसर मिले तो क्या बातें करेंगे?
2. नानी का प्यार हर बच्चे का अधिकार है। आपको नानी की याद किस तरह आती है?

# माँ की तस्वीर

*— मंगलेश डबराल*

*मंगलेश डबराल की कविता 'माँ की तस्वीर' जीवन की साधारणता में घुल गई एक स्त्री का आख्यान है। माँ और माँ जैसी स्त्रियाँ अपने परिवार के लिए रात-दिन काम करती रहती हैं उन्हें अपने बारे में सोचने या करने का कोई अवकाश ही नहीं मिलता, फिर वे इसी की अभ्यस्त भी हो जाती हैं। डबराल माँ के बहाने स्त्री जीवन के इसी पक्ष की तरफ़ हमारा ध्यान ले जाते हैं जो बहुत प्रकट होकर भी हमारी आँखों से ओझल रहता है।*

घर में माँ की कोई तस्वीर नहीं
जब भी तस्वीर खिंचवाने का मौका आता है
माँ घर में खोई हुई किसी चीज़ को ढूँढ़ रही होती है
या लकड़ी, घास और पानी लेने गई होती है
जंगल में उसे एक बार बाघ भी मिला
पर वह डरी नहीं
उसने बाघ को भगाया, घास काटी
घर आकर आग जलाई और सबके लिए खाना पकाया
मैं कभी घास या लकड़ी लाने जंगल नहीं गया
कभी आग नहीं जलाई
मैं अक्सर एक ज़माने से चली आ रही
पुरानी नक्काशीदार कुर्सी पर बैठा रहा
जिस पर बैठकर तस्वीरें खिंचवाई जाती हैं
माँ के चेहरे पर मुझे दिखाई देती है
एक जंगल की तस्वीर, लकड़ी, घास और
पानी की तस्वीर, खोई हुई एक चीज़ की तस्वीर

## संवाद

1. आपने कभी माँ के साथ कोई फोटो खिंचवाया है। कैसा लगा?
2. कवि को माँ के चेहरे पर लकड़ी या घास क्यों दिखाई देते हैं।

# माँ पढ़ती है

*— एस.आर. हरनोट*

*एस.आर. हरनोट हिमाचल के प्रसिद्ध हिंदी कथाकार है। उनकी कहानी 'माँ पढ़ती हैं' शहर में बस गए बेटे और गाँव में रह गई माँ के संबंधों का चित्र है। शहर से आने पर बेटा देखता है कि माँ के सिरहाने उसकी वे सभी किताबें पहले ही रखी हैं जिनके बारे में वह सोचता था कि मैं ये किताबें माँ को दिखाऊँगा। माँ का शहर में जा चुके बेटे के प्रति यह अनुराग, बेटा भले माँ को भूल गया है किंतु माँ का उसकी सभी गतिविधियाँ से गहरा प्रेम और अनुराग बना हुआ है।*

कई महीनों बाद गाँव आया हूँ। माँ वहाँ अकेली रहती है। आज घर का दरवाज़ा खुला है, वरना ऐन तड़के दरवाज़ा ओटकर माँ बाहर का काम निपटाने चली जाती है। सुबह का सारा वक्त गोशाला में बीतता है, पशुओं को घास-पत्ती देते। गाय दुहते। गोबर फेंकते।

इस समय भी माँ भीतर नहीं है। मैं उसके कमरे में चला आया हूँ। सूरज निकलते ही पहली किरण माँ के कमरे में पड़ती है। आज किरणों के साथ मैं हूँ। कमरा जितना अपना लगता है, उतना ही अकेला भी है, तरह-तरह की चीज़ों से भरा हुआ। उसी तरह जैसे उजास भीतर भर जाया करता है। ऊपर लकड़ी की छत में जगह-जगह मकड़ी के जाले हैं, नीचे की ओर झूलते। उनमें कई मरी हुई मक्खियाँ उलझी-फँसी हैं। यही हाल दीवारों का भी है। कई जगह जालों पर कीरा जमा हुआ है।

जगह-जगह सामान बिखरा पड़ा है। एक भी चीज़ तरकीब से नहीं है। दरवाज़े से भीतर आते दाईं ओर दूध बिलोने का घड़ा रखा है। और उस पर एक मैला-सा कपड़ा है। माँ जब चूल्हे के पास से दूध बिलोकर फारिग होती है तो इसे यहाँ ले आती है। बाईं तरफ़ एक टोकरा है। उसमें भेड़ की अनकती ऊन भरी है। उसकी तहों के ऊपर कुछ थींगे हुए ऊन के फाहे हैं। एक किनारे तकली रखी है। एक कोने में खजूर की पत्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। बीच में कई बुनी हुई खजूर की पट्टियाँ हैं। दूसरे कोने में छोटी-सी पुरानी मेज़। उस पर टेलीविजन रखा है। सिरहाने के साथ मैले-से कपड़े में ढका एक कनस्तर, जिस पर टेलीफोन है। बिजली के बल्ब का रंग बदरंग हो गया है। उस पर धूल ने पूरी तरह अधिकार जमा लिया है।

माँ के सिरहाने ऊपर की ओर भीत पर एक कील में लकड़ी का चकौटा टँगा है। उस पर ढिबरी रखी है। छत तक धुएँ ने एक लंबी लकीर बना दी है। बिजली चली जाने पर माँ इसे जला लिया करती होगी। कमरे में बीड़ी की बास पेसरी है। चारपाई के नीचे देखता हूँ तो वहाँ भी कई कुछ चीज़ें बिखरी हैं। अधबुझी बीड़ी के टुकड़े। दियासिलाई की जली तिल्लियाँ। एक खजूर के पटड़े पर सूखा अनारदाना। कुछ आँवले। आठ-दस अखरोट। पाँच अनछीली पकी हुई मक्कियाँ। एक-दूसरे में उनके सिरे एक डोरी से बँधे हैं। नयी फ़सल की मक्कियाँ देवता के लिए रखी होंगी। दो-चार गठड़ियाँ, जिनमें कई किस्म की दालें हैं।...इतनी चीज़ें माँ के साथ रहती हैं। उससे जुड़ी हैं। उसकी साथी-संगी हैं, लेकिन मैं इन सबके बीच उस कमरे में पगला-सा अकेला बैठा हूँ। वे जैसे मुझे पहचानने का प्रयास कर रही हों। कभी लगता है कि वे सभी मेरा उपहास उड़ा रही हों। माँ-घर-आँगन-द्वार-खेत-खलिहान-ज़मीन-जायदाद-सब मेरे हैं, पर मैं आज इनसे कितना दूर चला गया हूँ...!

सूरज घर की छत के कोने से कुछ आगे सरक गया है। किरणें सिमटती हुई आँगन में चली गई हैं। कमरे के उजाले को अपने साथ लेती हुई...सुबह की बेला में ही अंधकार का एहसास होने लगा है। यह अँधेरा बाहर से कहीं ज़्यादा मेरे भीतर पसरा है। हालाँकि मैं माँ के कमरे में हूँ। उनके बिस्तर पर बैठा स्नेह की गंध में भीग गया हूँ, लेकिन बरसों घर से बाहर रहने का एहसास उस स्नेह को मन तक नहीं पहुँचने देता।

याद ही नहीं रहा कि मेरे हाथों में किताबों का एक पैकेट भी है। इन नई पुस्तकों को मैं माँ को भेंट करने लाया हूँ। आज तक एक भी पुस्तक छपने के बाद उन्हें नहीं दे पाया, न ही उन्हें कभी पुस्तक विमोचन समारोहों में ही बुला पाया। जब भी कोई किताब आई है, मैंने उसे राज्यपाल या मुख्यमंत्री से ही रिलीज करवाया है, यह जानते हुए भी कि उन

लोगों का साहित्य से कुछ लेना-देना नहीं। बिल्कुल उसी तरह जैसे मंचों से गरीबी हटाने के नारे लगाने वालों का गरीबों से कोई लेना-देना नहीं होता। कागज़ों पर गाँव और उसके परिवेश की सोंधी खुशबू बिखरने वाले हम लेखकों का जैसे वहाँ की गोबर-मिट्टी से कोई वास्ता नहीं होता, यानी पल भर के लिए एक औपचारिक-सा छलावा। एक दिखावा भर। इससे ज़्यादा और कुछ नहीं।

ऐसा भी न था कि माँ को बुलाना नहीं चाहता था या उनकी यादें उस समय मेरे साथ न होतीं, लेकिन कई डर मन में घर किए रहते। सोचा करता कि आज का माहौल बिल्कुल अलग तरह का है। माँ कैसे इन बड़े लोगों के बीच अपने को एडजस्ट कर पाएगी?

सबसे पहले तो उनका बस में बैठना ही किसी मुसीबत से कम नहीं। बैठते ही उसकी तबीयत खराब हो जाएगी। उल्टियाँ करने लगेगी। थोड़ा आराम मिलेगा तो महज कनखियों से इधर-उधर देख झपटपट जेब से बीड़ी-माचिस निकाल लेगी और शॉल की ओट में सुलगाकर पीने लग जाएगी। एक-दो दम लेते ही खाँसी ऐसे शुरू होगी कि प्राण अभी गए कि अभी।

जैसे-कैसे समारोह में पहुँचेगी तो लोगों की नज़रें उन पर बराबर लगी रहेंगी। बिना प्रेस किए कपड़े, प्लास्टिक के जूते उपहास का सबब बनने लगेंगे। फिर उनके मुँह से बीड़ी की बास आती रहेगी। उनके बाल भी ठीक तरह से नहीं होंगे। हालाँकि शॉल सिर पर ओढ़ी होगी, पर काले-सफ़ेद बालों की आपस में उलझी लड़ियाँ नीचे तक लटकी दिखाई देती रहेंगी। उनमें घास के तिनके और सूखी पत्तियाँ फँसी नज़र आएँगी ही। जैसे ही लोगों को मालूम होगा कि मेरी माँ आई हैं तो वे बार-बार उनके पास बधाई देने जाएँगे। उनसे बातें करना चाहेंगे। कई-कुछ पूछने लगेंगे। लेखक और पत्रकार बंधु तो अपनी जिज्ञासु बातों से माँ को कुरेदेंगे भी। फिर पता नहीं माँ उनसे किस तरह बतियाएगी? क्या-कुछ उल्टा-सीधा बोल देगी? बातें करते-करते उसे खाँसी आ गई तो सब कुछ किरकिरा जाएगा। और अगर कहीं उसे बीड़ी की तलब हो आई तो झट से सुलगाकर वहीं पीनी शुरू कर देगी।...जलपान शुरू होगा तो छुरी-काँटे से तो माँ खा नहीं सकेगी। खाएगी भी तो सभी का ध्यान उनके हाथों पर अवश्य जाएगा। गाँव में घास-पत्ती काटते, गोबर फेंकते, दूध बिलोते, लकड़ियाँ काटते, चूल्हे में रोटी सेंकते, हाथ बवाइयों से भरे होंगे...उनसे गोबर-मिट्टी की बास आएगी...भले ही लोग मुँह पर कुछ न बोलें, पर बातें तो बनाएँगे ही...कि इतने बड़े लेखक की माँ ऐसी है। निपट गँवार। यह सब कुछ सहन भी कर लूँगा फिर बच्चों की खरी-खोटी सुनने पड़ेगी।

इन स्मृतियों में खोए-खोए माँ के बिस्तर पर लेट जाता हूँ। ऐसा लगता है कि मेरा बचपन लौट आया है। उस चारपाई पर मुझे यूँ लगने लगा है जैसे माँ की गोद में सोया हूँ।... पालने में माँ मुझे झुला रही है...यह सुख और स्नेह बरसों बाद मिला है। मन कर रहा है कि यहीं सोया रहूँ...कभी उठूँ ही नहीं।

अपने ऊपर आश्चर्य हो रहा है कि मेरी रचनाओं में गाँव है, वहाँ का पूरा अंचल है। गरीब लोग हैं। खेत-खलिहान हैं। माँ है। उसका स्नेह है...लेकिन उन वास्तविकताओं से खुद कितना दूर चला गया हूँ...कोसों दूर...। माँ के बिस्तर पर लेटा अपने भीतर के लेखक को ढूँढ़ने लगता हूँ, पर वह कहीं नहीं है। उसके कई चेहरे हैं या उन चेहरों पर कई तरह के मुखौटों की तहें चिपकी पड़ी हैं। अपने को उस शहरी परिवेश और अलीट सोसाइटी में ऊँचा दिखाई देने के लिए। नाम, प्रतिष्ठा कमाने के लिए...लोगों की वाह-वाह लूटने के लिए, पर उस उत्कर्ष का सही मायनों में मेरे भीतर के आदमी से जैसे कोई संबंध ही न रहा हो। अनायास फिर एक ओर रखी अपनी किताबों पर हाथ जाता है। उनका स्पर्श पुन: उसी उत्कर्ष पर ले जाता है। क्या हुआ माँ को नहीं बुलाया तो...? चलता है, सब कुछ चलता है। हम इक्कीसवीं सदी में जी रहे हैं, फिर क्यों उन रूढ़ियों का बोझ अपने कंधों पर ढोए चलें? गाँव-पहाड़, गोबर-मिट्टी, खेत-खलिहान कागज़ों की पीठ पर उगते अच्छे लगते हैं, पर वास्तविक जीवन में तो नरक हैं...नरक...। फिर मैं तो माँ का सम्मान करने ही आया हूँ, इधर तो ऐसे भी लेखक हैं जो या तो माँ-बाप से अलग हो गए हैं या उन्होंने उन्हें किसी वृद्धाश्रम के हवाले कर दिया है। मैं माँ के चरणों में इन पुस्तकों को रखकर उनसे आशीर्वाद लूँगा...पश्चात्ताप करूँगा...वे खुश होंगी कि उनका बेटा कितना बड़ा आदमी बन गया है। लेखक है। वे पुस्तकें जैसे मेरे अहं को और भी भव्य बनाए जा रही हों।

यही सब सोचते-विचारते सहसा माँ के सिरहाने पर हाथ जाता है। कुछ चुभता हुआ-सा महसूस होता है। मैं लेटे-लेटे दायाँ हाथ पीछे करके सिरहाने के नीचे डालता हूँ। चौंक जाता हूँ। हड़बड़ी में उठता हूँ और सिरहाने को एक तरफ़ हटा देता हूँ। कोई किताब है। बाहर खींचता हूँ तो स्तब्ध रह जाता हूँ। आँखें उसके आवरण पर धँसती चली जाती हैं। मेरी साँस रुकने लगी है। जिस्म का सारा खून जैसे शिराओं में जम गया है।...यह मेरी ही नई पुस्तक है। पागलों की तरह सिरहाने की तरफ़ के खिंदड़ों की तहों को हटाता हूँ और उसके नीचे पड़ी सभी किताबों को बाहर खींच लेता हूँ...सभी मेरी हैं।...भ्रम होता है कि कहीं अतीत में विचरते हुए मैंने ही अपना पैकेट वहाँ तो नहीं रख दिया था, पर वह पूर्ववत

था मेरे ही पास पड़ा हुआ। उसे खोलता हूँ। जो पुस्तकें मैं लाया हूँ, वे सभी उसी में हैं। माँ के सिरहाने तो दूसरी प्रतियाँ हैं।

पहली पुस्तक हाथ में लेता हूँ। उसे उलटता-पलटता हूँ। उसके भीतर पृष्ठों में जगह-जगह घास के तिनके और कुम्बर फँसे हैं। पतझड़ का मौसम कमरे में समाने लगता है।

सोचता हूँ कि माँ जब घास काटने घासणी में जाती होगी तो वहाँ बैठकर उसके पन्नों को उलटा-पलटा करती होगी।

दूसरी पुस्तक उठाता हूँ। उसे देखने लगता हूँ। उसके पन्नों से सरसों के फूलों की भीनी-भीनी खुशबू आने लगती है।...पन्नों को उलटता-पलटता हूँ...कई जगह नन्हें-पीले फूलों की पँखुड़ियाँ चिपकी हैं...एक-आध गेहूँ की बाली भी है। मेरा मन बसंत हो जाता है।

माँ जब खेतों में साग चुगने जाती होगी तो बैठकर पहले अपनी थकान मिटाती होगी और उसके बाद किताब के वर्कों को देखती-बदलती रहती होगी।

अब तीसरी किताब हाथ में लेता हूँ। यह मेरा उपन्यास है। उसके भीतर से रात की रानी की खुशबू आ रही है और कमरे में फैलने लगी है। अनायास ही नज़र आँगन के उस पार चली जाती है। वहाँ रात की रानी का पौधा है। कितना बड़ा हो गया है। उसकी टहनियाँ चारों तरफ़ बिखरी हैं। मन बहुत पीछे चला जाता है। गर्मियों की रातें जब चाँदनी से नहाई होतीं तो माँ अक्सर मुझे गोद में लिए यहाँ बैठा करती। कई कहानियाँ सुनाती।...किताब के पृष्ठों के बीच रात की रानी के फूल पड़े हैं।

...माँ इस किताब को चाँदनी रातों में वहाँ बैठकर देखा करती होगी।

चौथी पुस्तक में आटे और लस्सी की सुगंध रची-बसी है। पृष्ठों पर जगह-जगह आटे सने हाथों की उँगलियों के निशान हैं। कहीं-कहीं मक्खन की चिल्हट ने अक्षरों को मिटा दिया है।

...माँ रोटियाँ पकाते या फिर दूध बिलोते इसे निहारती-अवलोकती रहती होगी।

पाँचवीं कृति अब मेरे हाथ में है। उसके पन्नों से घने अँधेरे की गंध आने लगती है। उसमें बीड़ी की बास घुल-मिल गई है। पुस्तक के वर्कों को देखता-पलटता हूँ। कई जगह अक्षर धुल गए हैं। बीच-बीच में जली हुई बीड़ी की राख भी लगी है। एक जगह मरा हुआ जुगनू चिपक गया है।

...शायद उसे माँ घनी रात को बिस्तर पर हाथ में लिए बाँचती होगी। मेरी याद आने पर रो लेती होगी और फिर देर रात तक यूँ ही बैठी बीड़ी पीती रहती होगी।

अब छठी पुस्तक सिरहाने के नीचे से खींचता हूँ। मन अस्थिर होने लगा है। भीतर बौखलाहट होने लगी है। माथे से पसीना चू रहा है। उस किताब के भीतर पिता की कई पुरानी तस्वीरें हैं। उनमें कहीं माँ है तो कहीं मैं हूँ।

...माँ अपने इस लेखक बेटे के वैभव और उत्कर्ष को पिता के साथ स्मृतियों में बाँट लिया करती होगी।

उसे किनारे रखकर सिरहाने में फिर कुछ ढूँढ़ने लगता हूँ। बिस्तर की तहों में एक और किताब मिलती है। उसे निकालता हूँ। वह सातवीं पुस्तक है। देखता हूँ तो आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। यह नई किताब है जिसका विमोचन सप्ताह पूर्व ही हुआ है। उसके वर्कों से गोबर की गंध आ रही है। बाहर-भीतर कई जगह गोबर सने हाथों के निशान पड़े हैं। एक-दो जगह भेड़ की सफ़ेद ऊन के रेशे भी चिपके हैं।

...माँ उसे गोशाला के आँगन में पशुओं के बीच बैठकर देख लिया करती होगी।

आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई है। याद नहीं आता कि अपने जीवन में कभी इतना रोया होऊँ। मेरे भीतर का समस्त वैभव, उत्कर्ष, बड़े बने रहने का दंभ बूँद-बूँद माँ के बिस्तर पर झरने लगा है। मैं जैसे उस बिस्तर की तहों में खटमल की तरह घुसता-धँसता चला जा रहा हूँ। मेरा रोआँ-रोआँ अचरज और शर्मिंदगी से भर गया है। सिर टाँगों के बीच धँसता जा रहा है। इस दीनता-हीनता की स्थिति के बावजूद उस रोने का कोई सुख मुझे अधिक गिरने नहीं देता। ऐसा लगने लगता है कि माँ के कमरे की वे सभी चीज़ें मेरे अन्तस में अगाध स्नेह और ममता का सागर उड़ेलती चली जा रही हों। सामान्य और सहज होने में मेरी भरपूर मदद करती चली जा रही हों। मैं अपने को सँभालता हूँ। अचरज होता है कि मन अब हल्का हो गया है बिल्कुल उसी तरह जैसे बचपन में किसी ज़िद में रोते-रोते माँ की गोद में सो जाया करता और जब उठता तो बिल्कुल सहज होता।

तभी किसी की आवाज़ भीतर के सन्नाटे को तोड़ देती है।

"दादी! दादी! ...अखबार।"

माँ इस समय गोबर फेंक रही है। आवाज़ सुनते ही झटपट टोकरा नीचे रख देती है। डाकिए के हाथ से अखबार छीन लिया है। मैं बिस्तर पर से उठकर दरवाज़े की ओट से सब कुछ देखने लगता हूँ। वह अमरू डाकिया है। उसका घर हमारे घर से कुछ ही दूरी पर है। वह बराबर माँ के पास आता-जाता रहता है।

सारी बातें समझ आने लगी हैं। माँ अखबार देख रही है और डाकिया बीच के पृष्ठों में कुछ माँ को दिखा रहा है। माँ उस अखबार को भीतर ले जाकर कहीं गोशाला में छुपा देती है और पूर्ववत गोबर फेंकने लग जाती है।

मैं माँ के बिस्तर पर बिखरी किताबों को समेटने लगता हूँ और उसी तरह उनके सिरहाने रख देता हूँ। अपनी किताबों का पैकेट उठाकर बाहर निकल जाता हूँ। लग रहा है कि कई मनों बोझ किसी ने मेरे सिर पर लाद दिया हो।

...माँ अब बाहर का काम निपटाकर भीतर आ रही है। मैं बिल्ली के पाँवों वहाँ से खिसक लेता हूँ।

## संवाद

1. कहानी के नैरेटर ने जिस तरह माँ के समक्ष अपने को रखकर अपने अनुभव रहित लेखन पर व्यंग्य किया है। उससे आप कितना सहमत हैं?
2. गाँव-पहाड़, गोबर-मिट्टी, खेत-खलिहान कागज़ों की पीठ पर उगते अच्छे लगते हैं, पर वास्तविक जीवन में तो नरक है नरक? इस कथन के अभिप्राय पर विचार कीजिए।

# माई

— ***हरि भटनागर***

*'माई' हरि भटनागर की कहानी है। भटनागर का कथा शिल्प साधारण घटनाओं में से किसी असाधारण-असंभाव्य की प्राप्ति है। वे मामूली-निर्धन लोगों की जीवन स्थितियों का ही चुनाव करते हैं। यहाँ भी एक ऐसे व्यक्ति की कथा है जिसकी माँ एक मेले में उससे बिछुड़ गई, वह अपनी माँ की याद में विह्वल है। वह फिर मेले में जाता है और एक अनजान वृद्धा को माँ समझ कर ले आता है। पूरा गाँव यह सच्चाई जानता है लेकिन उसके प्रेम और ममत्व के समक्ष मौन है।*

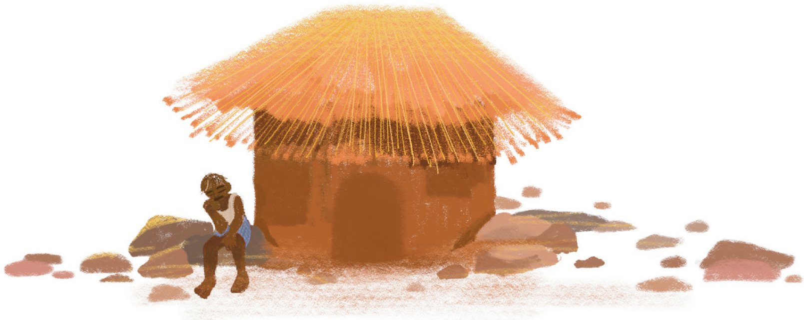

यह कहानी पाँचोपीरन गाँव के एक महरा की है। पता नहीं क्यों पाँचोपीरन गाँव का नाम ज़बान पर आते ही महरा की याद हो आती है।

महरा यही कोई चार फुट का निहायत ही काला, उस पर चेचक का मारा था। चेचक ने उसकी एक आँख छीन ली थी, दूसरी आँख थी लेकिन ऐसी दिखती जैसे गंदुमी काँच जमा दिया गया हो। नाक चपटी थी और भौंह और बरौनियाँ गायब थीं। सिर पर वह हमेशा गमछा बाँधे रखता।

जैसा कि कहा गया है कि वह महरा है, जीवनयापन के लिए बस स्टैंड की दुकानों में पानी भरता है। सुबह से शाम तक वह, काँधे पर बहँगी टाँगे, पानी के कनस्तरों को हाथों से सम्हालता, 'बच के बाबू' की हाँक लगाता, नंगे पाँव बगटुट कुएँ से दुकानों के बीच, सरकता दीखता। बहँगी  लचकती तो उसका शरीर आबनूस के लट्ठे-सा, बहँगी की लचक की लय के साथ ताल भिड़ाता। बिना बाँह की बनियान वह पहनता जिसे बत्ती की मानिंद

तहा के छाती पर चढ़ा लेता। चारखाने की ढीली-ढाली जाँघिया उसके घुटनों तक होती, लगता बरमुड्डा पहने हो।

प्रकृति में बदलाव सहज संभव है, लेकिन महरा के काम में कभी कोई बदलाव नहीं देखा गया। कैसी भी ठंड, तपिश और बारिश हो, वह कभी पीछे नहीं हटा। अपनी धज से उसने प्रकृति को हमेशा चुनौती दी।

लेकिन यही महरा आज उदास है और अपनी झोपड़ी में गमगीन पड़ा, कोई काम नहीं कर रहा है। सिसकता है, रोता है।

महरा की उदासी की एक छोटी-सी कहानी है।

बात यह है कि महरा की अस्सी साल की बूढ़ी माँ थी। महरा माँ को बेहद चाहता था। उसकी चाहत का यह आलम था कि उसने उसकी खातिर शादी नहीं की। उसका मानना था कि घरवाली आएगी तो अपनी चलाएगी और माँ को तंग करेगी। माँ को कोई तंग करे उसके लिए यह मर-मिटने वाली बात थी। माँ ने हज़ारों बार उससे अरदास की, विनती की कि वह शादी कर ले। पोतों को देखकर वह मरना चाहती है लेकिन उसने माँ की एक न मानी और कुँआरा ही रहा आया।

जिस लगन से वह काम करता, उसी लगन से माँ को चाहता भी था। माँ उसे सरवन कहकर पुकारती जबकि उसका नाम अच्छे था। माँ कहती– तू असली सरवन है, अवतार! भगवान सरवन तो माँ-बाप की सेवा से चूक गया था, तू उससे हज़ार कदम बेसी है, आगे है, लाल!

सरवन माँ के लिए मौसम का सबसे मीठा फल लाकर देता। आम, अमरूद, जामुन, खरबूजा, तरबूज, पपीता, जंगल जलेबी को वह चख के और टो-टो के लाता।

माँ उसके इस प्यार में बावली थी और सरवन को गाँवभर में बखानती फिरती।

कोई ऐसा दिन न गया जब उसने माँ का सिर या हाथ-पैर न दबाया हो। उसकी धोती फीचना और खाना बनाना सामान्य काम थे।

एक दिन जब सरवन माँ का सिर दबा रहा था, माँ को एक बात याद आई, उसने सरवन से दबे स्वर में आँचल फैलाकर कहा– सरवन, तूने जो मेरी सेवा की है, भगवान साक्षी है! बस जिनगी में एक ही इच्छा है, अगर उसे तू पूरा कर दे तो मैं आराम से मरूँगी।

सरवन ने भाव-विह्वल होते हुए कहा– माई, तू क्या चाहती है? बोल तो सही। सरवन जान देकर भी तेरी इच्छा पूरी करेगा!

बूढ़ी बोली– बेटा, पचास साल पहले, तेरा बाप मुझे परयाग कुंभ में असनान के लिए ले गया था, तब मैंने गंगा मैया से तुझे माँगा था और गंगा मैया ने तुझे हमें दिया। अब मैं तेरी सलामती की मन्नत माँगना चाहती हूँ ताकि मेरे बाद तू और भी फले-फूले।

माई, इसकी क्या ज़रूरत है? मुझे तो सिरफ तेरा आशीर्वाद चाहिए। किसी और के आशीर्वाद की ज़रूरत ही नहीं मुझे!!!

बेटा, ऐसा न बोल! भगवान के आगे हम सब मट्टी-कूड़ा हैं लाल! लेकिन बेटा, मैंने गंगा मैया को कौल दिया था कि पचास साल बाद पड़नेवाले कुंभ में, मैं बेटे को लेकर ज़रूर आऊँगी! मैं दरसन के लिए जाना चाहती हूँ। तू नहीं ले चलेगा, क्या?

क्यूँ नहीं ले चलूँगा, तेरी खातिर तो मैं कुछ भी कर डालूँ। सरवन ने प्यार में भरकर माँ को गले लगा लिया। ऐसे कैसे मान लिया कि मैं नहकार दूँगा।

फिर क्या था, अगले हफ़्ते, जब पूरा गाँव कोहरे में डूबा था, कड़ाके की सर्दी थी, सरवन, मुँहअँधेरे माँ के साथ प्रयाग कुंभ स्नान के लिए निकला।

सबसे बड़ी बात यह थी कि जिस तरह भारी भीड़ के बीच सरवन का बाप उसे रेलगाड़ी के डिब्बे के ऊपर बैठा के ले गया था, इस वक्त उसका बेटा उसे उसी तरह बैठा के ले जा रहा था। उस वक्त वह मरद का हाथ पकड़े थी, आज बेटे का। मरद गबरू जवान था। सिर पर लाल गमछा कसे था और कमर में मज़बूत फेंटा। पाँव में चमरौधा था, हाथ में तेल पिया लट्ठ! सरवन भी तकरीबन उसी धज में था। पता नहीं क्यों बूढ़ी को लगा कि वह सरवन के साथ नहीं, मरद के साथ असनान के लिए जा रही है!

सूरज जब मीठी और अलसाई धूप फेंक रहा था, उस वक्त रेलगाड़ी भारी शोर के बीच घड़घड़ाती हुई प्रयाग का विशाल पुल पार कर रही थी, थोड़ी देर बाद भारी जनसैलाब के बीच बूढ़ी ने गंगा मैया के दर्शन किए और सरवन के साथ कमर तक डूबे जल में सूरज भगवान को अर्घ्य दे रही थी...

आस-पास लाखों-करोड़ों की तादाद में लोगों का समुद्र लहरा रहा था। रेलवे स्टेशन से संगम तक दोनों कैसे पहुँचे, यह पता न चला। बस वे चलते गए और भारी भीड़ ने धक्कों के सहारे उन्हें गंतव्य तक ला पटका। बूढ़ी को भय सता रहा था कि पिस के कहीं परान न निकल जाएँ।

एक पल में वह संगम पर जिन लोगों को देख पाई वे बूढ़े-जवान, औरत-मर्द, चड्डी-जाँघिया-धोती लपेटे पानी में छिपाके लगा रहे थे। नग्न-अर्धनग्न साधू-संन्यासियों का अंतहीन जत्था हाथियों पर सवार और पैदल अपने-अपने भगवानों-त्रिशूलों और बड़े-बड़े

झंडों के साथ जय-जयकारों में डूबा था। कहीं शंख बज रहे तो कहीं घड़ियाल, ड्रम, तासे और ढोल। सारा जनसमूह तालियाँ बजाता भगवान के जयकारे में मग्न आँधी की तरह भागा चला जाता था। पुलिस का कड़ा इंतज़ाम था और उसकी निगरानी में स्नान चल रहा था। सैकड़ों लाउड-स्पीकर क्या चीख रहे थे, शोरगुल में कुछ समझ न आता था।

अर्घ्य के बाद जब बूढ़ी और सरवन ने आँखें खोलीं, बस यहीं, इसी क्षण अनर्थ हुआ था।

सरवन को याद है जब माँ अपनी सूखी हड़ीली अँजुरी जोड़े सूरज भगवान के सामने सिर झुका रही थी, उस वक्त वह भी माँ के बगल खड़ा था, सूरज भगवान को आँखें बंद कर जल चढ़ा रहा था कि ज़ोरों का शोर हुआ। इतनी ज़ोरों का शोर कि कान के परदे फट जाएँ कि बस उसे कुछ पता नहीं कि आगे क्या हुआ। वह संगम किनारे रेत पर पड़ा था, बेहोश! बेहोशी टूटी तो देखा वह अकेला है, माँ कहीं नहीं! चारों तरफ़ लाश ही लाश, उसमें भी कहीं नहीं! लोग चीख-चिल्ला, रो-पीट रहे थे। अपने-अपने स्वजन के लिए हैरान-परेशान थे। वह भी माई-माई की ज़ोरदार आवाज़ लगाने लगा।

माँ उससे बिछुड़ गई थी और वह बिना एक पल रुके, चीखता-चिल्लाता, रोता, छाती पीटता उसे खोज रहा था। तीन-चार दिन में ऐसी कोई जगह न थी जहाँ वह गया न हो; लेकिन बेकार, माँ उसका साथ छोड़ गई थी।

एक हफ़्ते बाद वह रोता-पीटता गाँव लौटा तो गाँव के लोगों ने सांत्वना में उसे घेर लिया। किसी ने उसे रोटी दी तो किसी ने पानी।

लेकिन सरवन को रोटी-पानी नहीं, माई चाहिए थी।

दो-तीन दिन तक वह बेजान-सा निढाल पड़ा माई-माई कर सिसकता रहा।

चौथे दिन सबेरे जब वह पल भर को झपका, उसकी नींद उचट गई, उसे जांत चलने की आवाज़ सुनाई पड़ी। लगा, माई है जो जांत चला रही है। वह झटपट उठ बैठा, बाहर की तरफ़ दौड़ा, देखा तो कहीं माई न थी। सत्तू घोसी था जो दूध दुहता हुआ अपनी घरवाली से कह रहा था कि माई अब कहाँ मिलने वाली है, गंगा मैया ने उसकी सुन ली, तभी तो वह असनान को गई थी...

हम भी तो यही कहते हैं, लेकिन सरवन माने तो सही, पागलों की घाईं हरकत करता है... सत्तू की घरवाली गोबर काँछते हुए बोली– हम तो कहते हैं, वह सरग गई... इसका गम नहीं, खुशी होनी चाहिए।

सरवन दोनों की बातों पर बुरा-सा मुँह बनाता, सुग्गे के पास आया और सुग्गे से पूछा– माई कहाँ है परवत्ते?

सुग्गा पिंजरे का चक्कर लगाता, माई-माई की तीखी टेर लगाने लगा जैसे वह खुद उसके गम में दुखी हो। जब सरवन ने झुककर उससे फिर प्यार से पूछा तो सुग्गा तीखी टेर मारने लगा जैसे कह रहा हो– माई तेरी नहीं, मेरी भी थी। अब रोने की नहीं, उसे खोजने की ज़रूरत है! जा खोज तो सही। माई मिलेगी, ज़रूर मिलेगी, पक्के में।

चौथे दिन सरवन माई की खोज के लिए प्रयाग रवाना हुआ, लौटा तो पूर्व की तरह अकेला था, माई उसे नहीं मिली थी।

माई की खोज में वह दस बार प्रयाग गया होगा लेकिन हर बार वह निराश ही रहा, बावजूद इसके उसे विश्वास था, माई मिलेगी, ज़रूर मिलेगी।

इस बार वह फिर माई की खोज में जा रहा है, उसने तय कर लिया है कि अगर इस बार माई न मिली तो वह गंगा की गोद में समा जाएगा, लौटेगा तो माई के साथ, नहीं, डूब मरेगा!!!

सत्तू और मुहल्ले के लोगों ने उसे समझाया, लेकिन उसने एक की न सुनी और अपनी बात दोहराता रहा। और माई-माई कर रोता रहा। जाते-जाते उसने हर बार की तरह सुग्गा सत्तू को नहीं दिया। उड़ा देना चाहा। सुग्गा फड़फड़ा के उड़ा और माई-माई की टेर लगाता हुआ झोपड़ी के ऊपर जा बैठा जैसे कह रहा हो कि मैं कहीं जाने वाला नहीं। मुझे भी माई का इंतज़ार है!

पूरनमासी के दूसरे दिन अल-सुबह भी जब चाँद चारों तरफ़ दूधिया शीतल नम चाँदनी बिखेर रहा था, सरवन किसी अनजान बूढ़ी के साथ गाँव में दाखिल हुआ। उस वक्त बेतरह खुश और उसके आवेग में रोता हुआ वह लोगों को गला फाड़-फाड़कर पुकार रहा था कि देख, माई मिल गई, देख, माई मिल गई!!! सत्तू, अँजोरे, उदैया! देख तो, माई मिल गई!!!

पल भर में समूचा गाँव उसके पास इकट्ठा हो गया।

सरवन जो सामने आता दीखता, चिल्लाता उसकी तरफ़ लपकता और रोता कहता– देख माई आ गई! मैं कहता था न कि माई मिलेगी, देख, मिल गई! और कैसे न मिलती। सरवन कभी माई के बिना रह सकता है! कभी नहीं, कभी नहीं। देख, माई थोड़े से दिन में कैसी हो गई, करिया, दूबर-दूबर! हाड़ निकल आए! बिचारी को नाकिसों ने रोटी-जल भी न दिया, लेकिन माई, तू फिकर मत कर! तेरा यह लाल तेरी ऐसी सेवा करेगा कि दुनिया रसक करेगी...

थोड़ी देर बाद सरवन माई को दूध में रोटी मीड़ के अपने हाथों से खिला रहा था।

बुढ़िया को माई समझ के ले आया और माई-माई कर रहा है! और ताल-बेताल बके जा रहा है।

लेकिन किसी ने इस रहस्य को सरवन के सामने नहीं खोला।

## संवाद

1. मेलों में होने वाली भीड़-भाड़ और बेतरतीबी को दुरुस्त या सुनियोजित करने के लिए क्या-क्या किया जा सकता है? विचार कीजिए।
2. सरवन जिसे अपनी माई समझ रहा है वह उसकी माई नहीं कोई और है, यह रहस्य गाँव के लोगों ने सरवन के समक्ष क्यों नहीं खोला? इस पर विचार कीजिए।

# माँ रसोई में रहती है

— ***कुमार अंबुज***

*कुमार अंबुज हिंदी के प्रसिद्ध कवि हैं, उन्होंने कहानियाँ भी लिखी हैं। उनकी कहानी 'माँ रसोई में रहती है' वस्तुत: स्त्री जीवन के उस अचर्चित-अलक्षित पक्ष पर ध्यान ले जाती है जहाँ उनके लिए पूरे घर-संसार में सिर्फ़ एक स्थान रसोई नियत हैं। माँ का रात-दिन रसोई में ही पाया जाना बताता है कि वे अपनी इस स्थिति पर उद्वेलित नहीं, बल्कि उसके प्रति अनुकूलित हो गई हैं। इस बारीक विडंबना का संकेत ही कहानी का मर्म है।*

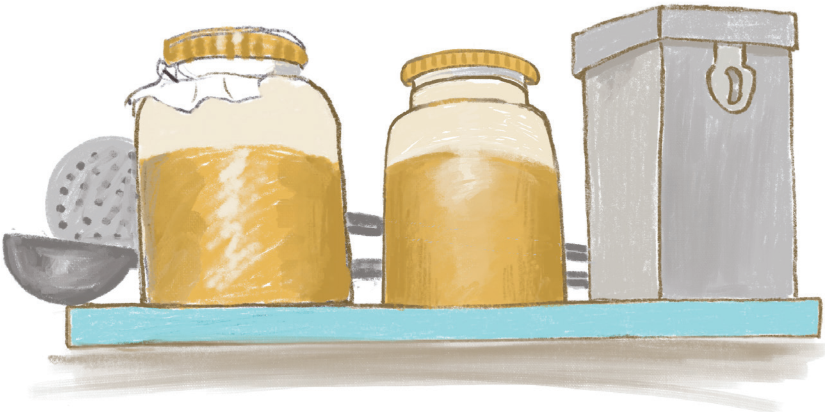

रात करीब तीन बजे मेरी नींद खुली।

कुछ खटर-पटर की आवाज़ आई। जाकर देखा तो माँ रसोई में कोई बर्तन निकाल रही थी। मुझे देखकर वह चौंक गई। फिर हँसकर कहने लगी, "अभी सुबह होने में देर है, तुम सो जाओ।" उसकी दंत-पंक्ति बहुत लुभावनी थी।

मैंने अपनी अलसाई हालत में पूछा, "तुम इतनी रात में क्या कर रही हो? क्या सोई नहीं?"

"अरे, सोई क्यों नहीं। अभी तो उठी हूँ।"

"तुम रात में ग्यारह बजे तक तो जाग रही थीं।" मैंने कुछ अचरज से कहा।

"हाँ, तो क्या हुआ? मैं इतना ही सोती हूँ। तुम जाकर सो जाओ।" कुछ दिनों बाद मैं यकायक रात में एक-डेढ़ बजे उठ बैठा। कोई सपना टूटा था या कहीं से कोई आवाज़ आई थी। थोड़ी देर में लगा कि रसोई में कोई है। लाइट जल रही थी। जाकर देखा, माँ स्टूल पर बैठकर अखबार पढ़ रही थी। मुझे देखकर कुछ घबरा गई लेकिन तुरंत ही संयत होकर पूछने लगी, "पानी पीना है?" और जवाब का इंतज़ार किए बिना ही उलीचना लेकर गिलास में पानी डालने लगी। पानी पीकर मैंने पूछा, "माँ, तुम अभी तक सोई क्यों नहीं?"

"बस, नींद नहीं आ रही थी तो यहाँ बैठकर अखबार पढ़ने लगी। सो जाऊँगी।"

"यह कोई बात हुई! जब देखो तब, आधी रात में भी किचन में बैठी रहती हो।"

"क्यों! क्या रसोईघर में नहीं बैठा जा सकता? मुझे यहीं बैठना अच्छा लगता है।"

"ठीक है।" मैंने हारकर कहा, "चलो, अब सो जाओ।"

"तुम जाकर सोओ। मैं यह आखिरी पेज पढ़कर आती हूँ।"

फिर ऐसा अनेक बार हुआ। जब कभी रात में मेरी नींद खुलती— बारह बजे, दो बजे चार बजे या सुबह-सुबह पाँच बजे वह मुझे किचन में मिलती। कभी कहती कि दही जमाने के लिए दूध रखना भूल गई थी। अभी पाँच मिनट में सोने जा रही हूँ। कभी बताती कि अरे, ध्यान आया कि घर में सब्ज़ी नहीं है, सुबह के लिए चने भिगो रही हूँ। या यह कि आटा फ्रिज में रखना भूल गई थी। एक रात देखा कि बारह बजे, रसोई की दीवार पर लगे कैलेंडर पर दूध का हिसाब लिख रही थी। पूछने पर जवाब दिया कि रोज़ लिखती हूँ, कितना दूध लिया, आज भूल गई थी, अभी याद आया तो लिख रही हूँ। कभी जताती, "मैं जैसे ही रात में किसी काम से उठती हूँ, तू पीछे-पीछे चला आता है।"

यह तो अक्सर ही कहती कि बस, पानी पीने के लिए उठी थी, ठंडी हवा रही थी तो यहाँ खिड़की के पास खड़ी हो गई। रसोई में दक्षिण दिशा की तरफ़ एक छोटी-सी खिड़की थी।

एक बार मैं घबरा ही गया। रात कोई दो-ढाई बजे का वक्त होगा। माँ अपने कमरे में नहीं थी। केवल पिताजी चित पड़े हुए खर्राटे ले रहे थे। बाथरूम में भी नहीं थी। किचन में और बैठक में अँधेरा था। बाहर का दरवाज़ा अंदर से बंद था। मैं चिल्लाया, "माँ, कहाँ हो तुम!"

माँ किचन के अँधेरे में से बाहर निकलकर आई। "क्यों, क्या बात है? इतनी ज़ोर से आवाज़ क्यों दे रहे हो? मैं डर गई। ज़रा धीरे बोलो, सब लोग जाग जाएँगे।" "ओफ्फो माँ। डर तो मैं गया था कि तुम न जाने कहाँ चली गई।"

"मैं कहाँ जाऊँगी। यहीं रसोई में थी।" "मैंने सब जगह देख लिया था। रसोई में घुप्प अँधेरा था।"

"तुम्हें लगता होगा अँधेरा। मुझे सब दिखता है। मैं पानी पीने आई थी। खिड़की से बाहर देखने लगी। आज शायद सप्तमी है।" मुझे गुस्सा आया। लेकिन मैं क्या कर सकता था? जाकर सो गया।

बाहर से लौटकर आओ तो अक्सर माँ ही दरवाज़ा खोलने आती लेकिन सीधे रसोई में से आना और वापस रसोई में चले जाना। कभी अचानक उमगकर कहती, "अच्छा तू आ गया। जरा स्टूल पर चढ़कर पापड़ का डिब्बा उठा दे।" उसके सारे काम रसोई से संबंधित होते हैं। और उसके अपने सभी काम भी रसोई में ही सम्पन्न होते हैं— ब्लाउज के हुक टाँकने से लेकर गेहूँ फटकने तक के सारे काम। साल में एकाध बार मौसी या बुआ को पत्र लिखती है तो वहीं रसोई में बैठकर, गोद में कोई किताब रखकर, कॉपी के पन्ने पर। बगल की चाची जी या पड़ोस की लड़कियाँ अक्सर ही घर में आती हैं, उन्हें भी वह रसोई में ही बैठाती है। एक छोटी-सी चटाई है, जो कभी टूटती-फटती ही नहीं है। चाची जी अलका या मधु कई बार माँ से कह चुकी हैं कि माँ की रसोई बहुत अच्छी है। मोहल्ले भर में सबको खबर है। करीने से जमी हुई और साफ़-सुथरी।

माँ फ़ुरसत में कभी अकेली बैठी दिखेगी भी तो अपने प्रिय एक फुट ऊँचे स्टूल पर, वहीं रसोई में। यह स्टूल मेरे जन्म से भी पहले का है। या फिर थोड़ी देर के लिए खिड़की पर खड़ी दिखेगी। कहीं खोई हुई, खिड़की के पार न जाने क्या देखती हुई। मुझे लगता है, दक्षिण दिशा का पूरा आकाश उसे पता है। उधर कितने तारे हैं, कौन-से नक्षत्र, कितने ग्रह। सूरज वहाँ से किस मौसम में कब गुज़रता है और चाँद कितनी कलाओं में खिलता है, उसे मालूम है। उस दिशा के आसमान के रंग और बादलों के रूप, वह सब जानती है। हवा से, आकाश से मौसम का अंदाज़ा लगा सकती है। या क्या पता वह यह सब देखती ही न हो। केवल दूर दिखते उन तीन-चार पेड़ों की पत्तियों को देखती हो या फिर सिर्फ़ साँस लेने के लिए ही खड़ी होती हो। उससे उसके बारे में कोई बात मालूम करना हमेशा कठिन होता है। वह बहला सकती है और इस तरह कि आपको लगेगा नहीं कि बहला रही है।

उसे रसोई से बाहर बुलाने की कवायद अक्सर ही बेकार जाती है। आवाज़ लगाकर पूछो कि बेल्ट, मोजे या घड़ी कहाँ है, इस उम्मीद में कि वह इसी बहाने इधर आएगी लेकिन वह रसोई से ही हर चीज़ बता देगी। बीच के दराज में पीछे की तरफ़ देखो या कहेगी तकिए के नीचे या उधर दरवाज़े के पीछे की कील पर। उसकी पसंद का कोई गाना रेडियो पर आ रहा होगा तो वहीं से कहेगी, "रेडियो को आवाज़ थोड़ा तेज़ करो, यहाँ रसोई तक आवाज नहीं आ रही है।"

छुट्टी का दिन था। मैं दोपहर डेढ़ बजे खाना खाकर सोने चला गया। छोटा भाई क्रिकेट का मैच खेलने गया था। साढ़े तीन बजे सोकर उठा तो देखा, माँ किचन में बैठी चावल बीन रही थी। मैं उसके गले से लिपट गया और लाड़ में भरकर कहने लगा, "यह क्या! दिन-रात काम-ही-काम कुछ न कुछ करते रहना। कभी आटा छान रही हो, कभी पानी, कभी दूध। कभी यह गरम कर रही हो, कभी उसे ठंडा कर रही हो। कभी बीनती हो, कभी फटकती हो। कुछ काम नहीं रहता तो नारियल कसने लगती हो या मसालों के डिब्बे बदलती रहोगी। पकाना, बधारना तो करती बघारना ही हो। सब्ज़ी काटकर ढेर लगा देती हो। अब ये चावल लेकर बैठ गई हो। अखबार पढ़ने, चिट्ठी लिखने तक का काम यहीं बैठकर करती हो। मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता। बाई बर्तन माँजती है, तब भी तुम यहीं किचन में रहती हो। अपने कमरे में जाकर आराम क्यों नहीं करती? वह कहने को तुम्हारा और पिताजी का कमरा है लेकिन उसमें तुम कभी नहीं रहती। बैठक में ही आराम कर लिया करो।"

"देख तू कुछ नहीं समझेगा। ये सारे काम पहले से करके रखने पड़ते हैं। एकदम से कोई दाल-चावल-सब्ज़ी कैसे बना देगा? जब भूख लगती है तो एकदम से लगती है। बाई से मैं बातें कर लेती हूँ। उसको कुछ बचा-खुचा देती हूँ। कभी उसे चाय भी बनानी पड़ती है। ये थोड़े बहुत काम करने ही पड़ते हैं। कौन करेगा इन्हें? और फिर मैं सोती तो हमारे कमरे में ही हूँ। बैठक में बैठना-लेटना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं। इतना आना-जाना होता है कि वहाँ दो मिनट भी आराम नहीं किया जा सकता। मेरा काम रसोई में ही चल जाता है। यहाँ मुझे शांति रहती है।" मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए, बालों को सहलाते, दुलारते हुए उसने जवाब दिया। इस उम्र में भी उसके केश काले और लंबे हैं।

वह इस तरह बात करेगी कि जैसे मैं चार-पाँच साल का बच्चा हूँ और कुछ समझने लायक नहीं हूँ। हर एक जिरह के बाद मुझे भी लगता है कि वाकई में उसके आगे नासमझ हूँ।

एक दिन शाम को देखा कि स्टूल दीवार से सटा है। माँ स्टूल पर बैठी है। उसकी गोद में थाली है, जिसमें आधी लौकी छीली हुई रखी है और वहीं चाकू पड़ा है। माँ का सिर कुछ पीछे होकर दीवार से लग गया है और माँ सो रही है। उसके चेहरे पर विश्रांति थी और वह गहरी साँसें ले रही थी। मैं कुछ देर खड़ा सोचता रहा कि माँ को जगाऊँ या नहीं। पलटकर जाने ही वाला था कि माँ ने एकदम से आँखें खोल लीं और पूछने लगी, "क्यों, क्या चाहिए?"

मैंने माँ को गौर से देखते हुए कहा, "माँ तुम इतना थक जाती हो लेकिन यहीं रसोई में बनी रहती हो। उधर अपने कमरे में बिस्तर पर कुछ देर आराम क्यों नहीं करती? देखो, तुम अभी-अभी यहाँ थककर सो गई थी।"

"नहीं, मैं सोई नहीं थी। मुझे कभी-कभी दीवार से सिर टिकाकर आँख बंद करना अच्छा लगता है। मैं बिल्कुल नहीं थकी हूँ। क्या चाहिए तुझे?"

"आजकल स्त्रियाँ क्या-क्या काम नहीं करतीं। तुम कभी-कभार बाहर भी घूम आया करो। यहाँ इस पिंजरे में क्यों बंद रहती हो?" मैंने बिलबिलाकर कहा।

"मैं घूम आती हूँ। तू ध्यान नहीं देता सब जगह जाती हूँ, उधर बाहर बगीचे में भी तुम लोग जब घर में नहीं होते, मैं बहुत घूमती-फिरती हूँ। कई बार गई हूँ, दूर-दूर तक।" उसकी आवाज़ जैसे रसोई के कोने में रखी गेहूँ की टंकी में से आ रही थी।

मुझे उसकी बात कुछ समझ में आई, कुछ नहीं आई। फिर वह हँसकर कहने लगी, "शुरू में बेचैनी होती थी मगर अब मुझे घर का काम करना ही अच्छा लगता है। घर में ही इतना घूमना-फिरना हो जाता है कि कहीं और जाने की ज़रूरत नहीं लगती। कहते हैं कि मैं अपनी माँ पर गई हूँ। उसे भी यही सब अच्छा लगता था।"

"तुम्हारी बेटी होती तो तुम उसे भी अपने जैसा ही बना देती।"

"सबको सब मिलकर बनाते हैं। हम सब। बेटियाँ भी इसी तरह बन जाती हैं।

लेकिन आज के जमाने में क्या कर सकते हैं। शायद वह कुछ अलग होती। कुछ अलग बन जाती।" वह खुश थी या उदास या नाराज़ कुछ पता नहीं चला। मैं चुपचाप अपने कमरे में चला गया।

थोड़ी देर बाद किचन के सामने से गुज़रा। देखा कि माँ किचन के प्लेटफॉर्म पर चढ़ी हुई है और टाँड़ पर से कोई डिब्बा उठाने की कोशिश कर रही है।

"माँ हद करती हो तुम। मैं घर में हूँ न! मुझसे कहो, क्या उठाना है।" मैं चिल्लाया।

"दिनभर में कई बार चीज़ें उठाना-रखना पड़ती हैं। तुझसे कहाँ तक कहूँ?"

फिर वह प्लेटफॉर्म से ज़मीन पर लगभग कूद ही गई और एकदम दर्द से अपने बाएँ पैर को एड़ी पकड़कर कराहने लगी। मैंने उसे सँभालकर वहीं स्टूल पर बैठाया।

बोली, "लगता है, एड़ी में मोच आ गई।"

"हाँ, इस तरह कुदोगी तो और क्या होगा। मैं उतार देता न!"

"थोड़ी-सी मोच होगी। पाँव मुड़ गया। होता रहता है। चल, उधर से मसालेदानी उठाकर मुझे दे।"

फिर वह वहीं स्टूल पर बैठकर हल्दी को पुलटिस तैयार करने लगी। उसी रात बीच में जब मेरी नींद खुली तो मैंने दूर से ही देखा कि खिड़की से रसोई में चाँदनी आ रही थी और उस दूधिया रोशनी में माँ खिड़की पर खड़ी थी।

एकदम सीधी, तनी हुई। उसके पाँव में किसी मोच या चोट का असर नहीं था। वह खिड़की के पार देख रही थी। शायद चाँद, शायद पेड़। शायद कुछ नहीं। फिर वह धीरे-से मुड़ी और स्टूल पर बैठ गई। उसने दीवार से सिर टिका लिया और आँखें बंद कर लीं।

## संवाद

1. इस कहानी के माध्यम से लेखक भारतीय स्त्रियों या माँ के किस मनोभाव को दर्शाता है? विचार कीजिए।
2. आपके पूरे घर को सुचारु रूप से चलाने के लिए माँ को प्रतिदिन क्या-क्या करना पड़ता है? पता कीजिए।

# लेखकों के बारे में

## सुभद्राकुमारी चौहान

जन्म– 1904 ई.

सुभद्राकुमारी चौहान का जन्म इलाहाबाद के निहालपुर गाँव में हुआ था। वे हिंदी की प्रसिद्ध कवयित्री, लेखिका एवं स्वतंत्रता सेनानी थीं। वे राष्ट्रीय चेतना की एक सजग कवयित्री रही हैं, उन्होंने अपनी अनुभूतियों को कहानी में भी व्यक्त किया। 'मिला तेज से तेज' सुभद्रा कुमारी चौहान की जीवनी है जो उनकी पुत्री सुधा चौहान ने लिखी थी। इनकी कहानियों में गाँधीवादी दर्शन की छटा स्पष्ट दिखाई देती है।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी रचनाओं में मुकुल और त्रिधारा (कविता-संग्रह); बिखरे मोती, उन्मादिनी, सीधे-सादे चित्र (कहानी संग्रह) आदि प्रमुख हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें 'मुकुल' तथा 'बिखरे मोती' पर अलग-अलग सेकसरिया पुरस्कार से सम्मानित किया गया। भारतीय तटरक्षक सेना ने 28 अप्रैल, 2006 को नवीन तटरक्षक जहाज़ को उनका नाम दिया गया। भारतीय डाक तार विभाग ने 6 अगस्त, 1976 को सुभद्रा कुमारी चौहान के सम्मान में 25 पैसे का डाक टिकट जारी किया था।

निधन– 1948 ई.

## भुवनेश्वर

जन्म– 1912 ई.

हिंदी के प्रसिद्ध कथाकार-नाटककार भुवनेश्वर का जन्म 20 जून, 1912 को शाहजहाँपुर, उत्तरप्रदेश में हुआ था। प्रेमचंद की खोज कहे जाने वाले भुवनेश्वर ने सिर्फ़ बारहवीं तक की पढ़ाई पूरी की थी। इनकी एकमात्र प्रकाशित रचना 'कारवाँ' की भूमिका स्वयं प्रेमचंद ने लिखी थी। उनकी अब तक उपलब्ध 12 कहानियों में से 9 और अब तक प्राप्त 17 नाटकों में से 9, प्रेमचंद के 'हंस' में ही प्रकाशित हुई थी। सन् 1933 के 'हंस' में भुवनेश्वर की पहली एकांकी 'श्यामा– एक वैवाहिक विडंबना' प्रकाशित हुई।

दूधनाथ सिंह के संपादन में 'भुवनेश्वर समग्र' का प्रकाशन हुआ है। भुवनेश्वर एक बहुत ही उर्वर, कल्पनाशील, प्रखर और सहज लेखक थे। कहानीकार के साथ-साथ भुवनेश्वर एक उत्कृष्ट कवि, सूक्तिकार और मारक टिप्पणीकार भी माने जाते है। इनकी साहित्य साधना बहुआयामी थी।

निधन– 1957 ई.

## भीष्म साहनी

जन्म– 1915 ई.

भीष्म साहनी का जन्म रावलपिंडी (अब पाकिस्तान) में हुआ। भीष्म साहनी का यथार्थ बोध उन्हें विशेष बनाता है और भारत विभाजन का दंश उनकी रचनाओं में स्पष्ट नज़र आता है।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी रचनाओं में भाग्यरेखा, पहला पाठ, भटकती राख, पटरियाँ, वाङ्चू, शोभायात्रा, निशाचर, पाली, डायन (कहानी-संग्रह); झरोखे, कड़ियाँ, तमस, बसंती, मय्यादास की माड़ी, कुंतो, नीलू नीलिमा नीलोफर (उपन्यास); माधवी, हानूश, कबिरा खड़ा बाज़ार में, मुआवज़े (नाटक); आज के अतीत (आत्मकथा); गुलेल का खेल (बालोपयोगी कहानियाँ) आदि महत्वपूर्ण हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार, लेखक अवार्ड, लोटस अवार्ड, सोवियत लैंड नेहरू अवार्ड तथा पद्मभूषण अलंकरण से विभूषित किया गया।

निधन– 2003 ई.

## मन्नू भंडारी

जन्म– 1931 ई.

स्वतंत्रता के बाद की हिंदी लेखिकाओं में मन्नू भंडारी एक सुपरिचित नाम है। उनकी कहानियाँ हो या उपन्यास, उनमें भाषा और शिल्प की सादगी तथा प्रामाणिक अनुभूति मिलती है। उनकी रचनाओं में स्त्री-मन से जुड़ी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति भी देखी जाती है।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी रचनाओं में एक प्लेट सैलाब, मैं हार गई, यही सच है, अकेली, त्रिशंकु (कहानी संग्रह); आपका बंटी, महाभोज (उपन्यास); बिना दीवारों का घर (नाटक); एक कहानी यह भी (आत्मकाथा) आदि प्रमुख हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें हिंदी अकादमी, दिल्ली शिखर सम्मान, व्यास सम्मान, बिहार सरकार, भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता, राजस्थान संगीत नाटक अकादमी और उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा पुरस्कृत किया गया।

निधन– 2021 ई.

## कमलेश्वर

जन्म– 1932 ई.

कमलेश्वर की रचनाओं में तेज़ी से बदलते समाज का बहुत ही मार्मिक और संवेदनशील चित्रण है। आज की महानगरीय सभ्यता में मनुष्य के अकेले हो जाने की व्यथा को उन्होंने बखूबी समझा और व्यक्त किया है।

प्रमुख रचनाएँ– इन्होंने राजा निरबंसियाँ, खोई हुई दिशाएँ, सोलह छतों वाला घर, जिंदा मुर्दे (कहानी-संग्रह); वही बात, आगामी अतीत, डाक बंगला, काली आँधी और कितने पाकिस्तान (उपन्यास); आत्मकथा; यात्रा-वृत्तांत; और संस्मरण भी लिखे हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' के लिए इन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा भारत सरकार द्वारा पद्म भूषण से सम्मानित किया गया।

निधन– 2007 ई.

## केदारनाथ सिंह

जन्म– 1934 ई.

हिंदी के साहित्यकार केदारनाथ सिंह का जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया ज़िले के चकिया गाँव में हुआ था। उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा ग्रहण की। उन्होंने कुछ साल पड़रौना और बाद में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में अध्यापन किया।

केदारनाथ सिंह तरल मानवीय संवेदनाओं के कवि हैं। उनकी कविताओं में रोज़मर्रा के जीवन के अनुभव परिचित बिंबों में बदलते दिखाई देते हैं।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख रचनाओं में ज़मीन पक रही है, यहाँ से देखो, उत्तर कबीर, बाघ, टालस्टॉय और साइकिल, सृष्टि पर पहरा (कविता संग्रह); कल्पना और छायावाद, मेरे समय के शब्द, कब्रिस्तान में पंचायत (गद्य पुस्तकें) आदि शामिल हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार, व्यास सम्मान, मैथिलीशरण गुप्त सम्मान, भारत-भारती सम्मान, दिनकर सम्मान और ज्ञानपीठ सम्मान से विभूषित किया गया।

निधन– 2018 ई.

## चंद्रकांत देवताले

जन्म– 1936 ई.

चंद्रकांत देवताले का जन्म जौलखेड़ा, ज़िला बैतूल, मध्य प्रदेश में हुआ। उनकी कविता में समय और संदर्भ के साथ ताल्लुकात रखने वाली सभी सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक प्रवृत्तियाँ समा गई हैं। उनकी कविता में समय और समाज के सरोकार हैं।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी रचनाओं में दीवारों पर खून से, लकड़बग्घा हँस रहा है, रोशनी के मैदान की तरफ़, भूखंड तप रहा है, आग हर चीज़ में बताई गई थी, पत्थर की बैंच आदि महत्वपूर्ण हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें कविता समय सम्मान, पहल सम्मान, भवभूति अलंकरण, साहित्य अकादमी पुरस्कार, शिखर सम्मान, माखन लाल चतुर्वेदी कविता पुरस्कार और सृजन भारती सम्मान आदि से विभूषित किया गया।

निधन– 2017 ई.

## निदा फ़ाज़ली

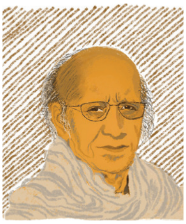

जन्म– 1938 ई.

सुविख्यात शायर मुक्तिदा हसन निदा फ़ाज़ली का जन्म मध्य प्रदेश के ग्वालियर में हुआ और यहीं इनकी पूरी शिक्षा-दीक्षा भी हुई। लेखन की यह प्रतिभा उन्हें अपने पिता से ही मिली थी।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख रचनाओं में लफ़्ज़ों के फूल, मोर नाच, आँख भर आकाश, खोया हुआ-सा कुछ, सफ़र में धूप तो होगी, आँख और ख्वाब के दरमियाँ (कविता संग्रह) आदि प्रमुख हैं। इन्होंने दीवारों के बीच, दीवारों के बाहर नाम से आत्मकथा भी लिखी है।

प्रमुख सम्मान– इन्हें पद्मश्री, मीर तकी मीर पुरस्कार, खुसरो पुरस्कार, महाराष्ट्र उर्दू अकादमी का श्रेष्ठतम कविता पुरस्कार, बिहार उर्दू अकादमी पुरस्कार, उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी पुरस्कार और हिंदी उर्दू संगम पुरस्कार आदि से सम्मानित किया गया।

निधन– 2016 ई.

## ममता कालिया

जन्म– 1940 ई.

ममता कालिया का जन्म मथुरा, उत्तर प्रदेश में हुआ। उनकी शिक्षा के कई पड़ाव रहे जैसे नागपुर, पुणे, इंदौर, मुंबई, दिल्ली आदि। शिक्षा समाप्ति के बाद उन्होंने उच्च शिक्षा क्षेत्र में अध्यापन कार्य करने के साथ-साथ अपनी लेखनी से साहित्य को भी समद्ध किया।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख रचनाओं में बेघर, नरक दर नरक, एक पत्नी के नोट्स, प्रेम कहानी, लड़कियाँ, दौड़ (उपन्यास); दो दर्जन से अधिक कहानी संग्रह; तथा कथेतर विधाओं की अनेक पुस्तकें शामिल हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें व्यास सम्मान, साहित्य भूषण सहित अनेक पुरस्कारों और सम्मानों से विभूषित किया गया।

## राजेश जोशी

जन्म– 1946 ई.

राजेश जोशी का जन्म मध्य प्रदेश के नरसिंहगढ़ ज़िले में हुआ। उन्होंने शिक्षा पूरी करने के बाद पत्रकारिता और कुछ सालों तक अध्यापन किया। गहरी संवेदनात्मक दृष्टि से परिपूर्ण राजेश जोशी की कविताओं का सामाजिक अभिप्राय स्पष्ट होता है। उनके काव्यलोक में आत्मीयता और लयात्मकता के साथ-साथ मनुष्यता को बचाए रखने का एक निरंतर संघर्ष भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी रचनाओं में एक दिन बोलेंगे पेड़, मिट्टी का चेहरा, नेपथ्य में हँसी, दो पंक्तियों के बीच, चाँद की वर्तनी, जिद, उल्लंघन (कविता संग्रह); सोमवार और अन्य कहानियाँ (कहानी संग्रह); जादू जंगल, अच्छे आदमी, टंकारा का गाना (नाटक); और एक कवि की नोटबुक (निबंध आलोचना) आदि महत्वपूर्ण हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें शमशेर सम्मान, पहल सम्मान, मध्य प्रदेश सरकार का शिखर सम्मान, माखनलाल चतुर्वेदी पुरस्कार और साहित्य अकादमी पुरस्कार आदि से सम्मानित किया गया।

## मंगलेश डबराल

जन्म– 1948 ई.

मंगलेश डबराल का जन्म टिहरी गढ़वाल (उत्तराखंड) के काफलपानी गाँव में हुआ और शिक्षा-दीक्षा देहरादून में हुई। दिल्ली आकर हिंदी पेट्रियट, प्रतिपक्ष और आसपास में काम करने के बाद वे भोपाल में भारत भवन से प्रकाशित होने वाले पूर्वाग्रह में सहायक संपादक हुए। तत्पश्चात अनेक अखबारों-मीडिया समूहों से उनका जुड़ाव रहा।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख रचनाओं में पहाड़ पर लालटेन, घर का रास्ता, हम जो देखते हैं, और आवाज़ भी एक जगह है, एक बार आयोवा (यात्रा-वृत्तांत); लेखक की रोटी (निबंध) आदि महत्वपूर्ण हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार और पहल सम्मान इत्यादि प्रमुख अलंकरणों से विभूषित किया गया।

निधन– 2020 ई.

## एस.आर. हरनोट

जन्म– 1955 ई.

एस.आर. हरनोट का जन्म चनावग, शिमला (हिमाचल प्रदेश) में हुआ था। इन्होंने हिमाचल प्रदेश सरकार के औद्योगिक विभाग और पर्यटन विकास निगम में अपनी सेवाएँ देने के साथ-साथ साहित्य के क्षेत्र में लेखन कार्य करके महत्वपूर्ण योगदान दिया।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख रचनाओं में हिडिंब 'नदी रंग जैसी लड़की' (उपन्यास); पंजा, आकाश बेल, पीठ पर पहाड़, दारोश तथा अन्य कहानियाँ, जीनकाठी तथा अन्य कहानियाँ, कीलें, नदी गायब है (कहानी संग्रह) आदि शामिल हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें अंतरराष्ट्रीय इंदुशर्मा कथा सम्मान, जे.सी. जोशी शब्द साधक जनप्रिय लेखक सम्मान, हिमाचल राज्य अकादमी पुरस्कार, अखिल भारतीय भारतेंदु हरिश्चंद्र पुरस्कार और हिमाचल गौरव सम्मान आदि से विभूषित किया गया।

## हरि भटनागर

जन्म– 1955 ई.

हरि भटनागर का प्रारंभिक जीवन, सुल्तानपुर, उत्तर प्रदेश में गुजरा था। अनेक समाचार पत्रों से सम्बद्ध रहे भटनागर मध्य प्रदेश साहित्य परिषद की साहित्यिक पत्रिका 'साक्षात्कार' के संपादक भी रहे।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी रचनाओं में सगीर और उसकी बस्ती के लोग, बिल्ली नहीं, दीवार, नाम में क्या रखा है, आँख का नाम रोटी (कहानी संग्रह); एक थी मैना एक था कुम्हार, दो गज़ ज़मीन (उपन्यास) आदि शामिल हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें भटनागर को रूस के पुश्किन सम्मान, राष्ट्रीय श्रीकांत वर्मा पुरस्कार, दुष्यंत कुमार सम्मान, वागीश्वरी पुरस्कार, वनमाली कथा एवं पत्रकारिता सम्मान से अलंकृत किया गया।

## कुमार अंबुज

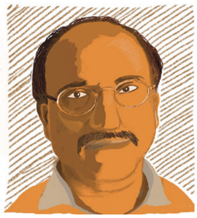

जन्म– 1957 ई.

सुप्रसिद्ध कवि कुमार अंबुज का जन्म ग्राम मँगवार, ज़िला गुना, मध्य प्रदेश में हुआ। वनस्पतिशास्त्र में स्नातकोत्तर की डिग्री प्राप्त करने के साथ इन्होंने कानून की भी पढ़ाई की।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख रचनाओं में किवाड़, क्रूरता, अनंतिम, अतिक्रमण, अमीरी रेखा, उप शीर्षक (कहानी संग्रह); प्रतिनिधि कविताएँ (कविता संग्रह); इच्छाएँ, थलचर (डायरी) आदि सम्मिलित हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें भारत भूषण अग्रवाल स्मृति पुरस्कार, माखनलाल चतुर्वेदी पुरस्कार, वागीश्वरी पुरस्कार, श्रीकांतवर्मा सम्मान, गिरिजाकुमार माथुर सम्मान और केदार सम्मान प्रदान किया गया।

# टिप्पणी

# टिप्पणी

## 'पढ़ें और बढ़ें' शृंखला की कुछ अन्य पुस्तकें

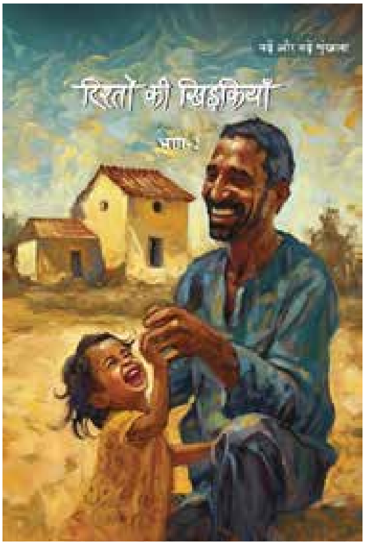


**रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग - 2**
मूल्य – ₹ 110
कोड – 21191
ISBN – 978-93-5292-866-8

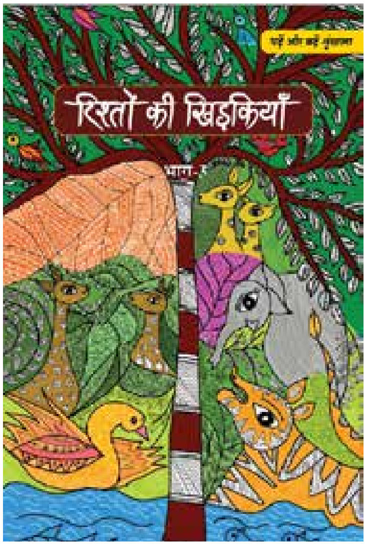


**रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग - 3**
मूल्य – ₹ 145.00
कोड – 21192
ISBN – 978-93-5292-813-2

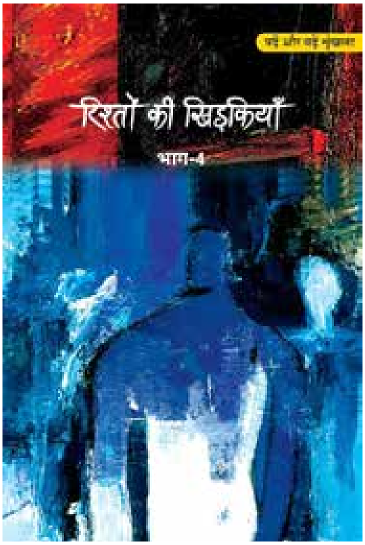


**रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग - 4**
मूल्य – ₹ 155
कोड – 21193
ISBN – 978-93-5292-641-1

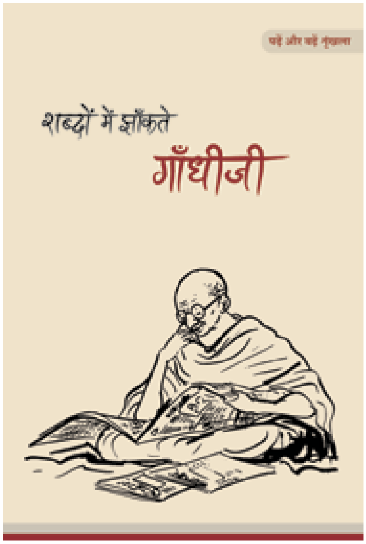


**शब्दों में झाँकते गाँधीजी**
मूल्य – ₹ 110.00
कोड – 21194
ISBN – 978-93-5292-821-7

---

अधिक जानकारी के लिए कृपया www.ncert.nic.in देखिए अथवा कॉपीराइट पृष्ठ पर दिए गए पतों पर व्यापार प्रबंधक से संपर्क करें।

21190

विद्यया ऽ मृतमश्नुते

एन सी ई आर टी
NCERT

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

ISBN 978-93-5292-890-3